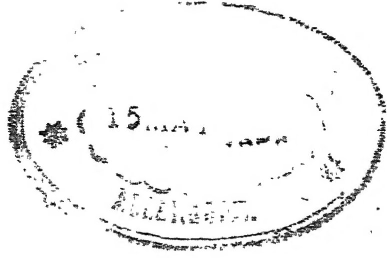
प्रकीर्णक पुस्तकमाला—६२

भारतीय सृष्टिक्रम-विचार

लेखक
श्री संपूर्णानंद





काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

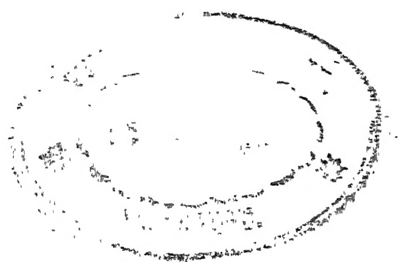
प्रथमावृत्ति] संवत् १९९९ [मूल्य ।=)

प्रकाशक—
काशी नागरीप्रचारिणी सभा

मुद्रक—
श्री अपूर्वकृष्ण बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच।

ॐ नमः परमऋषिभ्यः

इस जगत् का मूल क्या है, उस अपने मूल से इसका विकास किस प्रकार हुआ, इसका विलय किसमें और कैसे होगा, इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर जिन्होंने सबसे पहिले दिया और उत्तर ढूँढ़ निकालने का मार्ग मनुष्यों को बतलाया, उन परम योगीश्वरों को शतशः प्रणाम। यह छोटी सी कृति उन्हीं के चरणों में लेखक द्वारा अर्पित है।



विषय-सूची

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२	निमित	निर्मित
६	११	क्त	सूक्त
८	७	लज	जल
११	७	प्रतीत्या	प्रतीष्या
१५	११	दशाङ्ग ुलम्	दशाङ्गुलम्
१८	२	प्रवोचत	प्रवोचत्
२०	११	पृच्छामि भं	पृच्छामिमं
२१	९	सक्तार	सत्कार
२२	२५	अन्नुगण	अनुगण
२३	१६	वैशेषिक न्याय	वैशेषिक
३०	२६	नड़ी	नाड़ी
३७	१६	इंइ य	इंद्रिय
४२	१८	जोड़	छोड़
४४	१७	ये	ग्रह

सूचना—पृष्ठ २७ पर जो त्रिभुज दिया हुआ है उसकी दोनों भुजाएँ क ख और ख ग बराबर होनी चाहिएँ ।

विषयमुख

यह निबंध दर्शन के एक बड़े ही रोचक अंग के किंचित् अध्ययन और तत्संबंधी मनन का परिणाम है। सर्ग और प्रतिसर्ग के रहस्य को समझने की ओर मनुष्य की बुद्धि स्वभावतः खिंचती है। जंगली से जंगली मनुष्यों में भी इस संबंध के कुछ विचार प्रचलित हैं और सभी दर्शनों और धर्माचार्यों को इस विषय में कुछ न कुछ कहना पड़ता है। जो मत जितना ही तर्क-सम्मत और विज्ञान से अविरुद्ध होगा वह उतना ही ठीक माना जायगा।

भारतीय विचार-शास्त्र में इस विषय का स्थान महत्त्व का है। यह सामग्री वेदों, सूत्रग्रंथों तथा उनके आधार पर लिखे गए पुराणादि में मिलती है। खेद की बात यह है कि अभी इसका बहुत बड़ा अंश केवल हिंदी जाननेवालों को लभ्य नहीं है। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि हमारे पंडित-वर्ग ने स्वतंत्र विचार करना छोड़ दिया है। आज-कल विज्ञान के आविष्कारों ने जगत् के संबंध में जो प्रकाश डाला है, उसका पंडित-समाज को पता नहीं है, अतः वे इस युग के उपयुक्त स्वतंत्र टीका भी नहीं लिख सकते, केवल पुरानी टीकाओं को रटने-रटाने में अपनी इतिकर्तव्यता मानते हैं।

अपने यहाँ के सृष्टि-संबंधी विचारों का स्वरूप और उनकी गहराई दिखलाने के लिये मैंने पहिले तो नासदीय सूक्त का भाष्य किया है, फिर पंचमहाभूत के विषय में विचार किया है। पंचमहाभूत के संबंध में जो कुछ लिखा गया है, उसका आधार हमारा दार्शनिक वाङ्मय है। मैंने स्थान स्थान पर योगियों के अनुभव का भी उल्लेख किया है। इसके लिये मुझे क्षमा-याचना करने की आवश्यकता नहीं है। योगी का अनुभव भी प्रत्यक्ष का ही एक भेद है और उसकी प्रामाणिकता भी स्वीकार करनी होगी। यह अनुभव सबको नहीं होता, इतने से ही अमान्य नहीं होता।

सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रयोग भी सबके लिये सुकर नहीं हैं। परंतु अनुकूल प्रयत्न करने से सबको यह अनुभव हो सकता है। इसी प्रकार अनुकूल प्रयत्न करने से योगानुभूति भी सबके लिये सुलभ है। जो शर्त दूसरे शास्त्रों के लिये है वह योगशास्त्र के लिये भी है। उसके सिद्धांतों और निष्कर्षों का समन्वय अन्य ज्ञानांगों के साथ दर्शन के द्वारा होना चाहिए।

श्री नासदीय सूक्त ऋग्वेद के दशम मंडल का एक सौ उन्तीसवाँ सूक्त है। सात मंत्रों की इस छोटी सी राशि ने भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी बड़ी ख्याति प्राप्त की है। पाश्चात्य विद्वान इसे सृष्टि-सूक्त कहते हैं। उनकी सम्मति है कि दर्शन के क्षेत्र में मनुष्य समय समय पर अपनी बुद्धि दौड़ाने के जो प्रयत्न करता रहा है, उनमें यह सबसे प्राचीन है।

भाष्य और उसके विषय के संबंध में कुछ कहने के पहले मैं दो-चार शब्द वेदों के विषय में कहना चाहता हूँ। यों तो हिंदी में लिखी पुस्तक में, जिसके पढ़नेवाले प्रायः हिंदू ही होंगे, यह कुछ अनावश्यक सा प्रतीत होता है, फिर भी वेदों के विषय में हमारी धारणा और पाश्चात्यों की धारणा में जो भेद है, उस पर थोड़ा सा विचार कर लेना अनुचित न होगा। विदेशी विद्वानों के मत से वेद के मुख्यतः तीन भाग हैं। एक में तो उनके ग्रामगीत तथा विवाहादि उत्सवों के गीत हैं, दूसरे में ऐतिहासिक गाथाएँ हैं जिनके कलेवर को अनुश्रुतियों ने विकृत कर रखा है और तीसरे में देवस्तुति और जादू-टोना है। आदिकाल में मनुष्य आज की अपेक्षा प्रकृति का अधिक वशवर्ती था। उसे अपने कामों में पदे पदे ठोकरें लगती थीं। बिजली, बादल, आतप, अँधेरा सभी उसे सताते थे। इसलिये उसने अपनी कल्पना के बल से सारे विश्व को अच्छी बुरी अदृश्य शक्तियों से बसा दिया था। किसी का आह्वान करता था, किसी से बचना चाहता था। इंद्र, पूषा, वरुण, यम, वृत्र, विनायक इत्यादि मनुष्य की इसी कल्पना की उपज हैं। इनसे काम लेने, इनको अपने से दूर रखने तथा इनके द्वारा शत्रुओं की क्षति कराने के लिये जो नाना प्रकार के उपाय किए जाते थे, वही यज्ञ-याग हैं। सभी उन्नत जातियों के धार्मिक विचारों का विकास इसी मूल से हुआ है। अब भी कई ऐसी जंगली जातियाँ हैं जो इस

विचारस्तर के ऊपर नहीं उठ सकी हैं। आर्य्यों ने अपनी इस सारी पुरानी संपत्ति के यथासंभव बचा रखा। उसके संग्रह का नाम वेद पड़ गया। ज्यों ज्यों उसकी भाषा और भाव में पुरानापन और अपरिचितपन आता गया, त्यों त्यों उसका महत्त्व बढ़ता गया। ऐसा माना जाने लगा कि वह अपौरुषेय है, ईश्वर-रचित है, अनादि और अविनश्वर है। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि कुछ अंश खो गया है: उसके बारे में ऐसा समझा जाता है कि इस समय के अनुकूल न होने से ईश्वर ने उसे उठा लिया है, अतः वह लुप्त हो गया है।

हिंदू धर्म्मानुयायी इस बात से सम्मत नहीं है। वह वेद को सचमुच अपौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि यह जगत् न तो किसी स्वेच्छानुवर्ती ईश्वर की मनमानी लीला है और न अंधी प्राकृत शक्तियों की आकस्मिक क्रीड़ा की प्रसूति है। सागर, महाद्वीप और पहाड़ बनते-बिगड़ते रहते हैं; ग्रह, नक्षत्र, ब्रह्मांड उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं परंतु जगत् का प्रवाह नहीं रुकता; क्योंकि कर्म का नियम अटल, अमिट, शाश्वत है और सब जीवों के सब कर्म्मों का युगपत् संचय नहीं हो सकता। सृष्टिक्रम पर तो आगे विचार होगा, पर जब सृष्टि होती है तो उसमें ऐसे लोकों और लोकों में ऐसी सामग्री का होना आवश्यक है, जिससे जीवों को कर्म और भोग में बाधा न पड़े। जो मनुष्य पहले आते हैं वे पीछेवालों के लिये पथिकृत्—मार्ग बनानेवाले—होते हैं। यदि उनको सभी प्रकार का ज्ञान अपने परिश्रम से ही ढूँढ़ निकालना हो तो बड़ा समय लगे और सभ्यता की गति बड़ी धीमी हो। उस आदिम अवस्था में तो पशुओं से लड़कर पेट भरना भी कठि[illegible]ा, ज्ञानोपार्जन का कहाँ अवकाश था। प्रकृति की उच्छृंखल शक्तियाँ पास [illegible]नती थीं। फिर भी उन विद्याओं का तो ज्ञान देर-सबेर मिल भी जाता [illegible] स्थूलदृष्ट्या भौतिक विज्ञान की किसी न किसी शाखा के अंतर्गत हैं; परं[illegible]धारणतः मनुष्य के पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह परं[illegible] अध्यात्मविद्या को ढूँढ़ निकालता।

पर वह निःसहाय नहीं [illegible]। जिन जीवों ने इसके पहले के सृष्टिकल्पों में अपनी तपश्चर्य्या से [illegible]नी आध्यात्मिक उन्नति की थी, वे

मनुष्य के सहायक थे। उनको उसके लिये अनुकंपा और सहानुभूति थी। वे उसको उन्नत देखना चाहते थे। इनमें से कुछ तो प्रकृति की मुख्य मुख्य शक्तियों का, यों कह सकते हैं कि विश्व के मुख्य मुख्य विभागों का, संचालन करते हैं। प्रकृति जब क्रूर प्रतीत होती है तब भी उसके साथ दया निहित होती है। सत्कर्मों को प्रोत्साहन दिया जाता है, दुष्कर्म्मों का दंड दिया जाता है परंतु अपराधी तथा दूसरों के कल्याण के उद्देश्य से। ये महाप्राण व्यक्ति मनुष्य-जाति पर उसी प्रकार की दृष्टि रखते हैं, जैसी कि बड़ा भाई छोटे भाई पर रखता है। उनका दुलार और क्रोध दोनों ही उसके हित के लिये होते हैं। इनको साध्य और आजानदेव कहते हैं। इनके तैंतीस वर्ग माने गए हैं। यही संख्या लोकानुश्रुति में तैंतीस करोड़ हो गई है। इनके अतिरिक्त, कुछ महापुरुष मनुष्य रूप से भी अवतरित होते हैं। ये समाज की मर्य्यादा स्थापित करते हैं और सत्कर्म्म का उपदेश देते हैं तथा आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करते हैं जो निःश्रेयस् का एकमात्र साधन है। यही मनुगण और ऋषिगण हैं। ऋषियों के द्वारा जो ज्ञान मनुष्यों को प्राप्त होता है, उसका नाम वेद है। वह अनादि और अविनश्वर है। ऋषियों को समाधि की अवस्था में उसका साक्षात्कार होता है। वे उस अवस्था में उसे सुनते हैं, इसी लिये उसे श्रुति कहते हैं। जिसको समाधि में वेद का साक्षात्कार हुआ है, वही ऋषि कहलाता है।

यह ज्ञान-भंडार तो अथाह है, पर किसी समयविशेष पर इसका कुछ ही अंश अवतरित होता है, सब का सब एक ही समय आवश्यक नहीं होता। इसका संबंध किसी देश, जाति या भाषाविशेष से नहीं है, परंतु यह स्वाभाविक ही है कि ऋषि लोग उसी जाति में अवतरित होंगे जो उस समय, अपने सुकर्मों के प्रभाव से, उनकी शिक्षा को ग्रहण करने की सबसे अधिक पात्रता रखती होगी और उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान और दीक्षा को उसी जाति की भाषा में अभिव्यक्त होना पड़ेगा। जो सौभाग्य इस कल्प में आर्य्यजाति और संस्कृत भाषा को प्राप्त हुआ वह इसके पहिले दूसरों को मिल चुका है और आगे चलकर फिर दूसरों को मिलेगा। अपने इस विश्वास के कारण हिंदू वेद को स्वतःप्रमाण मानता है। जो ऋषिकल्प

हो अर्थात् जिसकी तपस्या ऋषियों के बराबर हो, वह तो श्रुति की प्रामाणिकता को अपने अनुभव की कसौटी पर रख सकता है, दूसरे लोगों के लिये श्रद्धा और तर्क हैं। तर्क स्वतः तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करा सकता और न निर्विकल्प ज्ञान दे सकता है पर उसकी उपयोगिता कम नहीं है। निरुक्त में एक जगह आया है—"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य तर्कमृषिं प्रायच्छन्। [ऋषियों के उठ जाने पर मनुष्यों ने देवों से कहा—"अब हमारा ऋषि कौन होगा?" उन्होंने (उनके लिये) तर्क को ऋषिस्थान में भेजा।]

नासदीय सूक्त सृष्टि-संबंधी प्रश्न का एक उत्तर देता है। यह वेद का अंग है और वेद दर्शन की पोथी नहीं है। इसलिये वह तर्क नहीं करता, केवल घोषणा करता है, अपने मंतव्यों का प्रतिपादन मात्र करता है। तर्क करके उसे बुद्धि में बैठाना तथा उसका साक्षात्कार करना जिज्ञासु और दार्शनिक का काम है।

इस सूक्त की व्याख्या अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने की है। विदेशी पंडितों की गवेषणा और अध्यवसाय स्तुत्य है; परंतु आध्यात्मिक बातों के समझने में वे बहुधा अक्षम रहते हैं। जो पुस्तक आरंभ में ही अर्धसभ्य गँड़ेरियों के गानों का संग्रह मान ली गई उसमें उनको गंभीर बातें खटकती हैं। यही संदेह होता है कि या तो यह अंश पीछे से प्रक्षिप्त है या वाग्जाल मात्र है। अपने संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में मैकूडोनल्ड कहते हैं कि नासदीय सूक्त में उसी प्रकार के दोष हैं जैसे भारतीय दर्शन मात्र में हैं—अर्थात् विचारधारा अस्पष्ट और असंबद्ध है और केवल शब्दों के आधार पर तर्क करने का प्रयत्न किया गया है। फिर, ये लोग न दर्शन को मोक्ष का साधन मानते हैं और न आध्यात्मिक अनुभव के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। एक उदाहरण लीजिए। छांदोग्य उपनिषद् के पहले अध्याय के छठे खंड का पाँचवाँ मंत्र कहता है 'अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम'—यह जो सूर्य्य का शुक्ल प्रकाश है वह ऋक् है; जो नील, बहुत श्याम, है वह साम है। अब इसका कोई पाश्चात्य विद्वान् क्या अर्थ लगाए? सूर्य में काला प्रकाश कहाँ देख पड़ता है? क्या यह माना जाय

कि उस ऋषि को, जो इस मंत्र का द्रष्टा था, उन काले धब्बों का पता था जो आज दूरबीनों से देख पड़ते हैं। यदि था, तो उसको यह भी जानना चाहिए था कि सूर्य का प्रकाश श्वेत नहीं पीत है। फिर सूर्य के प्रकाश से और ऋग्यजुःसाम से क्या संबंध हो सकता है ? ऐसी दशा में ऐसा मानने में ही सुविधा है कि यह सब अनर्गल प्रलाप है। शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं कि योगी को ऐसा अनुभव होता है। इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी प्रखर बुद्धि भी निःसार बातों के चंगुल से मुक्त न हो सकी।

भारतीय विद्वानों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। वे भारत के आध्यात्मिक वातावरण से असंश्लिष्ट नहीं थे। सायण का भाष्य जो वेद के विद्यार्थियों के लिये अपूर्वतया उपयोगी है, इस बात का प्रमाण है। परंतु मेरा नम्र निवेदन है कि सायणादि ने भी इस सूक्त पर यथोचित विचार नहीं किया है। उन्होंने भाष्य न लिखकर टीकापद्धति का अनुसरण किया है। प्रत्येक मंत्र पूर्व और परगामी मंत्रों से पृथक् सा लिया गया है, इसलिये क्रम का प्रदर्शन तो नहीं ही होने पाया, पुनरुक्ति का बाहुल्य हो गया और भाव का गांभीर्य्य छिप गया।

मैंने भाष्य करने में शांकर अद्वैतवाद और शास्त्र-सम्मत सर्ग-क्रम का ही अनुसरण किया है। कहीं कहीं मैं अद्वैतवाद की प्रचलित परिपाटी से हट गया हूँ। मेरा विश्वास है कि मूलसिद्धांत में इससे कोई व्याघात नहीं पहुँचता वरन् यही व्याख्या ठीक है। यदि यह आधुनिक विज्ञान के कहीं कहीं समीप जाती है तो इसे दोष न मानना चाहिए।

इस प्रकार का अर्थ करने में मुझे कहीं व्याकरण की खींचातानी करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। केवल इतना मानकर चला था कि वेद जो कहता है, वह सारगर्भ होता है और श्रुति की नींव पर ही उत्तरकालीन दर्शन की विशाल अट्टालिका खड़ी की गई है। उदाहरण देकर भाष्य का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं था परंतु जिन लोगों ने दर्शन-ग्रंथों, पुराणों और भगवद्गीता जैसे निबंधों का अध्ययन किया है उनको नासदीय सूक्त के विचारों की छाया इन रचनाओं में बराबर मिलेगी। मैं वेदोक्ति को अद्धं-

सभ्य भेंड़ चरानेवालों के पुरोहितों की बुद्धि की उड़ान न मानकर विशुद्ध और गंभीर तथा अनुभवसिद्ध ज्ञान की अभिव्यंजना मानता हूँ। यह सम्भव है कि उस अनुभव के अभाव में हम उसके आधार पर खड़े तर्क के स्वीकार करने में असमर्थ हों; परंतु इतना तो विदित हो ही जाना चाहिए कि जिस किसी के भी ये शब्द हों उसकी बुद्धि में एक संबद्ध परिपाटी थी। कहाँ तक मैं इस बात के दिखलाने में सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय विद्वज्जन ही कर सकते हैं।

इस निबंध के दोनों भाग फ़तहगढ़ के 'सेंट्रल प्रिज़न' में लिखे गए थे। पहिला अंश १९९८ की जन्माष्टमी के और दूसरा कार्तिक कृष्ण तृतीया के। जेल में आधारग्रंथों का संग्रह करना कठिन होता है। यदि यह त्रुटि न होती तो संभवतः विषय का प्रतिपादन कुछ और विस्तार से किया जा सकता। बाहर आने पर यह कमी पूरी की जा सकती थी, परंतु मैंने विशेष परिवर्तन करना उचित न समझा। एक बात बतला देना ठीक होगा। दोनों भाग अलग अलग लिखे गए थे और लिखते समय यह निश्चित भी नहीं था कि किसी समय इनका प्रकाशन एक साथ होगा। इसलिये दोनों को मिलाकर पढ़ने से स्यात् कहीं कहीं द्विरुक्ति दोष की प्रतीति हो। जब नागरीप्रचारिणी सभा की कृपा से सारे निबंध का पुस्तिका रूप से निकलना तय हुआ, तब थोड़ा-बहुत काट-छाँटकर दोनों की भूमिकाओं के एक में मिला दिया गया।

प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य भारतीय विचार की इस धारा का निदर्शन मात्र है, इसलिये जिन सिद्धांतों का आश्रय लिया गया है, उनको तर्क के द्वारा सिद्ध करने तथा विरोधी मतों के निराकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। इसके लिये दर्शन की बड़ी पुस्तकों को देखना चाहिए।

न तो मेरा यह दावा है कि मैं श्रुति के रहस्य को पूरा पूरा समझ पाया हूँ और न यह कि मैं पंचमहाभूत संबंधी सारी शंकाओं का निराकरण कर सका हूँ। यदि लोगों की प्रवृत्ति इस निबंध को पढ़ने के बाद इस विषय की ओर अधिक खिंचे तो मैं अपने को धन्य मानूँगा।

जालिपादेवी, काशी
१५ चैत्र (सौर), १९९८

संपूर्णानन्द।

भारतीय सृष्टिक्रम-विचार

१

ऋग्वेद में सृष्टिक्रम

(क) श्री नासदीय-सूक्त की रूपरेखा

जगत् का मूल एक, अद्वय, अखंड, अविभाज्य है। उसको ब्रह्म कहते हैं। वह दिक् और काल से अनवच्छिन्न है, न ज्ञाता है और न ज्ञेय, वरन् शुद्ध ज्ञानस्वरूप, विज्ञानघन है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दयालु, इत्यादि कोई भी उपाधि उसके लिये उपयुक्त नहीं है। यदि कहीं ज्योतिः-स्वरूप ऐसा विशेषण उसके लिये आया हो तो वहाँ ज्योति का अर्थ शुद्ध चेतना है, प्रकाश नहीं। बुद्धि सामान्यतया उन्हीं विषयों को गोचर बना सकती है जो हमारे अनुभव में आते हैं और वाणी इन्हीं अनुभवों

को शब्दों में व्यक्त कर सकती है। ब्रह्म का स्वरूप साधारण अनुभव का, अथच बुद्धि और वाणी का, विषय नहीं है। इसी से श्रुति कहती है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"—वहाँ से मन और वाणी लौट आते हैं, वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। चूँकि ब्रह्म के लिये कोई विशेषण युक्त नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा निगुण है इसी लिये वेद उसे 'नेति, नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहते हैं।

अनस्तित्व, अज्ञान-तत्त्व का नाम माया है। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार संलग्न है जिस प्रकार पत्र के एक पृष्ठ के साथ दूसरा पृष्ठ, बर्तन के बाहरी भाग के साथ भीतरी भाग, शरीर के साथ छाया। वह जड़ होने से चेतन ब्रह्म से भिन्न है, ब्रह्म के सिवा किसी और वस्तु का अस्तित्व न होने से अभिन्न है। माया का रूप भी शब्दों में व्यक्त करना असंभवप्राय है, इसलिये उसे अनिर्वचनीया कहते हैं। उसके ही कारण ब्रह्म में जगत् का आभास होता है पर उसके ही कारण ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ज्ञान का विषय, ज्ञेय बनता है। माया का अर्थ ही है वह जिसके द्वारा जाना जाय—'मीयते अनया इति माया'। ज्ञेयत्व के साथ ही ब्रह्म में ज्ञातृत्व भी आता है, क्योंकि ज्ञाता के बिना ज्ञेय की कल्पना नहीं की जा सकती।

ब्रह्म सत् है और माया असत्। इन दोनों का मेल हो ही नहीं सकता। फिर भी ब्रह्म पर माया के आवरण की जो भ्रांत प्रतीति होती है उसकी संतति माया-शबल ब्रह्म माया-विशिष्ट ब्रह्म—ईश्वर है। ईश्वर भी दिक्काल से बाहर है परंतु उसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम कारुणिक, आदि नामों से पुकारना ठीक है। वह केवल ज्ञानात्मक नहीं परंतु ज्ञान का अधिष्ठाता, ज्ञाता, है। परंतु उसके सिवा और किसी वस्तु का अभाव होने से वह अपना आप ही ज्ञेय है। वह अपने स्वरूप को जानता है और यह जानता है कि मैं अपने स्वरूप को जानता हूँ। उसकी शक्ति, पराशक्ति को आद्या कहते हैं। वह ईश्वर से भिन्न है और ईश्वर के निःसीम ज्ञान का ही—वस्तुतः ज्ञान बल है—दूसरा नाम है। श्री नासदीय-सूक्त में उसको स्वधा कहा है।

जिस समय अव्याकृत—अर्थात् एकरस, भेदरहित—ईश्वर व्याकरणोन्मुख होता है, अनेकता की ओर झुकता है उस समय उसकी हिरण्यगर्भ संज्ञा होती है, क्योंकि यह हिरण्य(स्वर्ण)नामी विश्व उसके गर्भ से बहिर्गत होता है। सच पूछिए तो यहीं से सृष्टिक्रम आरंभ होता है। हिरण्यगर्भ को ईश्वर का सक्रिय रूप कह सकते हैं। महाब्रह्म और प्रजापति भी उनके नाम हैं। उनकी शक्ति का नाम महासरस्वती है। महासरस्वती ज्ञान की देवता* हैं। वह जगत् की समस्त विभूतियों, सारे प्रेरक नियमों, अणु और स्थूल सभी वस्तुओं के ज्ञान और इन सब पर ज्ञान-जनित अधिकार की अधिष्ठात्री है। दूसरी दृष्टि से यह माया, अज्ञान से अभिन्न है क्योंकि जितना ही विश्व का ब्योरा बढ़ता जाता है उतना ही शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप पर पर्दा पड़ता जाता है।

हिरण्यगर्भ से पुरुष और प्रधान (मूल प्रकृति) की अभिव्यक्ति हुई। पुरुष स्वयं इच्छा-राग-द्वेष-प्रयत्न से रहित, साक्षी, चेतन है परंतु प्रधान के संयोग से अपने को कर्ता, भोक्ता समझने लगता है और सुख-दुख का अनुभव करने लगता है। प्रधान जड़ है और उसी से अंतःकरण, इंद्रियगण और महाभूतों की उत्पत्ति हुई है। उसका और पुरुष का संयोग वास्तविक नहीं है, फिर भी जिस प्रकार रंगीन प्रकाश के सामने पड़ने से स्फटिक पर रंग की आभा प्रतीत होती है उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान और उसकी संतति के धर्मों से उपरक्त प्रतीत होता है। इस मोह के वश में पड़ने पर उसकी जीव संज्ञा होती है। जीव अनेक लोकों में और अनेक

---

* हिंदी में लोग बहुधा बोलचाल में 'देवता' को देवी का पुल्लिंग रूप मानकर प्रयोग करते हैं। यह भूल है। देवी का पुल्लिंग देव है। देवता शब्द का विशेष संबंध वैदिक वाङ्मय और मंत्रशास्त्र से है। वहाँ इसका प्रयोग किसी देव-देवी के विग्रह नहीं, वरन् उसकी शक्ति के लिये होता है। देवता नित्य स्त्रीलिंग शब्द है। प्रत्येक वेदमंत्र के साथ ऋषि, छंद, विनियोग और देवता का उल्लेख रहता है। वहाँ इस प्रकार का प्रयोग होता है: इस मंत्र की देवता इंद्र या रुद्र या विष्णु हैं। वहाँ तात्पर्य ऐंद्री, वैष्णवी या रौद्री शक्ति से है।

शरीरों में जन्म लेकर मरता है, फिर भी वह इस कर्मव्यूह के बाहर निकलने में असमर्थ सा प्रतीत होता है। परंतु वस्तुतः निराश होने की बात नहीं है। जीव कभी भी अपने शुद्ध रूप का परित्याग नहीं कर सकता। प्रत्येक क्षण में उसका प्रत्येक काम दो शक्तियों के संघर्ष का परिणाम होता है; एक ओर उसका सहज, मुक्त, स्वरूप—दूसरी ओर कर्मविपाकजन्य परिस्थितियों का योगफल। कभी ऐसा भी दिन आता है जब उसकी सहज शक्ति परिस्थिति से बलवत्तरा हो जाती है और वह जगत् से पराङ्मुख हो जाता है। तब वह धीरे धीरे उस मार्ग पर लौट चलता है जिस पर चलकर इतना नीचे गिरा था। जिस क्रम से बंधन पड़े थे, उसी के उलटे क्रम से ढीले होते हैं। अंत में वह अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अंतर्मुख चाल को ही योगाभ्यास कहते हैं।

सूक्त में पुरुष और प्रधान की अभिव्यक्ति के पीछे का ब्योरा नहीं दिया गया है। इतना बतला देना आवश्यक होगा कि इस पुरुषप्रधानात्मक जगत् की समष्टि का नाम विराट् है। सांख्यमत के प्रवर्तक महामुनि कपिल तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य आसुरि, पंचशिख, ईश्वरकृष्ण प्रभृति ने प्रधान से क्रमशः महत् और अहंकार और फिर अहंकार से मन, इंद्रियगण तथा तन्मात्रा और तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति विस्तारपूर्वक दिखलाई है। जहाँ सांख्य हाथ खींचता है वहाँ से इस कथा को मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, गणित और भौतिक विज्ञान उठाते हैं। इस जगह उन बातों का ब्योरेवार कथन अनावश्यक है। सृष्टिक्रम के चित्र को पूरा करने के लिये इतना संकेत अलम् है।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है। ईश्वर या हिरण्यगर्भ की प्रवृत्ति सृष्टि की ओर क्यों हुई? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि ईश्वर का लक्षण ही है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'—चाहे जैसी इच्छा हो वैसा करने में समर्थ। उसकी इच्छा स्वतंत्र है, उसमें 'क्यों' का प्रश्न उठता ही नहीं। पर एक दूसरा उत्तर भी है। एक ऐसा समय आता है जब ब्रह्मांड पुराना हो उठता है, वह कर्म और भोग के योग्य नहीं रह जाता। उस समय उसके नीचे के लोक—जिनमें मनुष्य, पितृ और देवगण रहते हैं—सूक्ष्म

भूत में समा जाते हैं और सूक्ष्मभूत मन के साथ अहंकार में लीन हो जाता है। अतः वे लोक भी, जो मानस तत्त्व से निर्मित हैं, विलीन हो जाते हैं। जीवों के कर्मों का क्षय तो नहीं होता परंतु कर्म और भोगभूमि के अभाव से उनके संस्कार बुद्धि के पटलों में टिक जाते हैं और जीव प्रसुप्त सी दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यही प्रलयावस्था है। काल पाकर ये संस्कार फिर जागते हैं और इनके अनुसार नए ब्रह्मांड का सृजन आवश्यक हो जाता है। जीवों के कर्मसंस्कारों का योग नूतन जगत् की सृष्टि का प्रवर्तक होता है। इस विषय का चर्चा आगे चलकर भी होना है। इसलिये यहाँ विस्तार के साथ दुहराना ठीक नहीं प्रतीत होता।

इस संक्षिप्त रूपरेखा में इस गंभीर विषय का यथोचित वर्णन नहीं हो सकता। मैंने तर्क न करके केवल एक चित्र खींच देने का प्रयत्न किया है। उद्देश्य इतना ही था कि मंत्रों के भाव को समझने में सुविधा हो और जिस पीठिका के सामने इस विषय का अध्ययन होना चाहिए उसका कुछ परिचय हो जाय। इतनी आशा अवश्य करता हूँ कि मैंने अपनी जानकारी में सूक्त के अर्थ और वेदांत या सांख्य के सिद्धांतों को वितथ रूप से नहीं दिखलाया है।

एक शंका का और समाधान करना आवश्यक है। कुछ लोग यह आपत्ति करते हैं कि जब यह जगत् मिथ्या, मायामय है तो फिर पढ़ना, लिखना, योग, तप, दान या किसी अन्य प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ है। उनको सोचना चाहिए कि जिन आचार्यों ने जगत् को मायामय बतलाया है उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का भी विधान किया है। दोनों बातों में जो विरोध है वह तो उनकी भी समझ में आना चाहिए था। बात यह है कि वस्तुतः विरोध नहीं, विरोधाभास है। जगत् को मिथ्या मिथ्या कहने मात्र से उसका मिथ्यात्व प्रतीत नहीं होता। तर्क करने से ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में शास्त्रार्थ तो किया जा सकता है, पर साक्षात्कार नहीं हो सकता और जब तक साक्षात्कार नहीं होता तब तक सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। रागद्वेष का पुतला 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर मुक्त नहीं हो सकता और न माया को कोसने से उसके जाल से

निकल सकता है। उसे तो जगत् को सत्य मानकर ही काम करना है, पर काम ऐसा करना है जिससे बंधन की शृंखला ढीली हो। जितना ही निष्काम बुद्धि से सत्कार्य्य किया जायगा उतना ही 'मैं, पराया' का भेद क्षीण होगा और योगानुष्ठान द्वारा स्वरूप-दर्शन की पात्रता प्राप्त होगी। जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया उसके लिये न कोई विधि है न निषेध। वही जगत् के सच्चे स्वरूप का अनुभव करता है और उसको मिथ्या कहने का सच्चा अधिकारी है। इसके पहिले, हाथ पर हाथ धरकर बैठना कोरा आलस्य है और वेदांत की विडंबना है।

(ख) श्री नासदीय-सूक्त-भाष्य

सृष्टिसंबंधी प्रश्न तो ऋग्वेद में यत्र तत्र कई बार उठाए गए हैं। जैसे दशम मंडल का इकतीसवाँ सूक्त पूछता है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः"—वह कौन सा वन था और कौन सा वृक्ष था जिससे काटकर द्यावा-पृथिवी बनाए गए? इसी प्रकार दशम मंडल का एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त पृथिवी, द्युलोक, सूर्य्य, जल, पर्वत आदि के स्रष्टा के विषय में बार बार पूछता है "कस्मै देवाय हविषा विधेम"—हम किस देव को हवि अर्पित करें? प्रश्नों के साथ स्थल स्थल पर उत्तर भी दिए गए हैं, पर वे उत्तर अति संक्षिप्त और अपर्य्याप्त हैं। नासदीय सूक्त में इस त्रुटि की पूर्ति की गई है, यह इसका विशेष महत्त्व है।

इस सूक्त का छंद त्रिष्टुप् और ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। परमात्मा इसकी देवता हैं।

मंत्र

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १॥

भावार्थ

उस समय न तो असत् था, न सत् था। न पृथिवी थी, न आकाश था और न वह था जो आकाश के ऊपर है। आवरण कहाँ था? किसका कहाँ स्थान था? क्या गहन गंभीर जल था?

भाष्य

मैं रूप-रेखा में लिख चुका हूँ कि ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। इसलिये सृष्टिक्रम का वर्णन ईश्वर से ही आरंभ होता है। पहिले ही एक कठिनाई का सामना पड़ता है। शब्दों के द्वारा उसको व्यक्त करना कठिन होता है जो हमारे साधारण अनुभव का विषय नहीं है। ईश्वर काल के परे है, इसलिये उसके लिये 'उस समय' 'इस समय' कहना अहैतुक है। मंत्र में 'उस समय' से तात्पर्य्य आज से बहुत पहिले के किसी समय-विशेष से नहीं है। इन शब्दों द्वारा उस अवस्था की ओर संकेत किया गया है जो जड़-चेतन और चर-अचर के उस संघटन का पूर्व-रूप थीं जिसे हम जगत् कहते हैं।

यदि सत् और असत् का प्रयोग यहाँ कोष और व्याकरण सम्मत 'होने' और 'न होने' के अर्थ में हुआ है तब तो यह कहना कि न सत् था न असत् था निरर्थक वाक्य हो जाता है। फिर यह श्रुत्यंतर के विरुद्ध भी है। जैसे छांदोग्योपनिषत् में लिखा है 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'—हे सोम्य, आरंभ में यह सत् ही था। अतः यहाँ कुछ दूसरा ही अर्थ होना चाहिए। ईशावास्योपनिषत् में प्रधान को 'असंभूति' शब्द से लक्षित किया है। असत् का भी वही अर्थ है। इससे यह निकला कि पुरुष के लिये सत् आया है। उस अवस्था में पुरुष और प्रधान, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, का विभेद नहीं था। केवल एक अव्याकृत, ईश्वर था। इतना ही कहना पर्याप्त होता परंतु कुछ और वस्तुओं का नामोद्देश करके बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है। पृथिवी और आकाश अर्थात् भूर्लोक और स्वर्लोक न थे। अतः इनके बीच का भुवर्लोक भी न रहा होगा। वह भी न था जो व्योम के ऊपर है अर्थात् ऊपर के महर्लोकादि भुवन भी न थे।

इसके आगे जो प्रश्न किए गए हैं उन सब का एक ही उत्तर है और वह नञात्मक है। अतः प्रश्न के व्याज से अपना उपर्युक्त कथन ही दृढ़ किया गया है। आवरण अर्थात् सब भुवनों को ढँकनेवाला ब्रह्मांड भी नहीं था। कहाँ किसका स्थान था अर्थात् किसी का कहीं स्थान नहीं था। कोई दिग्व्याप्त वस्तु थी ही नहीं, स्थान किसका होता? फिर दिक् तो था ही

नहीं, स्थान कहाँ होता? दिक् के अभाव को बतलाने से काल का अभाव भी सूचित हो जाता है। जल सभी भौतिक पदार्थों के लिये उपलक्षण मात्र है। जल नहीं था, कहने का अर्थ यह हुआ कि कोई भौतिक पदार्थ नहीं था। जल को विशेषतया इसलिये चुना है कि जल के अभाव से यह सूचित होता है कि उस अवस्था में ऐसी परिस्थिति न थी जिसमें प्राणधारी रह सकते। जीवशास्त्रियों का ऐसा विश्वास है कि पहिले पहिले जीव जल में उत्पन्न हुए। इसका समर्थन कई जगह वैदिक वाङ्मय में हुआ है।

मंत्र

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥ २ ॥

भावार्थ

उस समय न मृत्यु थी न अमृत था। न रात-दिन का प्रकेत (चिह्न) था। वह एक अपनी स्वधा से वायु के बिना साँस लेता था। उसके सिवा और कुछ नहीं था।

भाष्य

पहिले मंत्र में कही बातों का इस मंत्र में विस्तार किया गया है। जब कोई प्राणी ही नहीं था तो मृत्यु और अमरत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु ये दोनों शब्द संभवतः कुछ दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ईशावास्योपनिषत् में 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' में जीवों के साधारण विनश्वर ज्ञान और कर्म को मृत्यु कहा है और कठोपनिषत् में देवपदप्राप्ति को अमृतत्व कहा है। मृत्यु और अमृत के अभाव को बतलाकर यह सूचित किया गया है कि जीवों के ज्ञान और कर्म दोनों की गति अवरुद्ध थी; क्योंकि भोग और कर्म क्षेत्रों का अभाव था और जीव प्रसुप्तावस्था में थे। दिन-रात के प्रकेत के अभाव का यह तात्पर्य हुआ कि उस समय दिन-रात न थे; किसी प्रकार की गति, घटनाओं का प्रवाह न था। दूसरे शब्दों में काल न था। इस वाक्य का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि दिन-रात के विभाजक का चिह्न न था। इसका अर्थ यह हो सकता है कि या तो पूर्ण अंधकार था, या पूर्ण प्रकाश। ये दोनों शब्द लाक्षणिक ही हो सकते हैं; क्योंकि ईश्वर के लिये अँधेरे-उजाले का प्रश्न नहीं उठता।

श्रुति कहती है 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'—उसका ज्ञान, बल और कर्म स्वाभाविक है अर्थात् स्वतंत्र है, किसी साधन और बाहरी प्रेरणा की अपेक्षा नहीं करता। यही बात इस वाक्य द्वारा व्यक्त की जा रही है कि वह अपनी स्वधा से वायु के बिना साँस लेता था। यह उसकी सर्वशक्तिमत्ता का सूचक है। साँस शब्द के प्रयोग से एक और अर्थ निर्गत होता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया जीवन की सहचारिणी है। जहाँ जीवन होता है वहाँ संवित, चेतनता की भी अभिव्यक्ति होती है। छोटे से छोटे जीव में भी बाह्य आघातों की प्रतिक्रिया देख पड़ती है। जो साँस लेता है वह चेतन होता है। अतः यहाँ यह सूचित होता है कि ईश्वर ब्रह्म की भाँति चेतना मात्र नहीं, चेतन, शुद्ध ज्ञान नहीं, वरन् ज्ञाता है। किसी अन्य वस्तु के अभाव में वह अपने आप का ही ज्ञाता हो सकता है। वह स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय है*।

मंत्र

तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

भावार्थ

पहिले तम से ढका तम था। यह सब अप्रकेत सलिल था। जो अभु (सब कुछ या विभु) था वह तुच्छ से ढका हुआ था। उसके तप की महिमा से वह एक उत्पन्न हुआ।

---

* ऊपर मंत्र में जो स्वधा शब्द आया है उसका अर्थ हुआ वह जो अपने आपको धारण करे, अर्थात् जो निराधार हो, जिसका कोई दूसरा आश्रय न हो। स्त्रीलिंग होने से यह शब्द ईश्वर की शक्ति, उसकी ईश्वरता, के लिये—जिसे शाक्त वाङ्मय में आद्या या परा शक्ति कहते हैं—प्रयुक्त माना जाता है। यही शब्द फारसी में खुदा हो गया। ईरानी में खुदा रूढ़ि है। इसकी कोई व्युत्पत्ति नहीं बतलाई जा सकती। भाव वही निराधारता का है, परंतु प्रयोग पुंल्लिंग में होता है और वह भी गुण के स्थान में गुणी के लिये, शक्ति के स्थान में शक्तिमान्, ईश्वर, के लिये। यह उन शब्दों में से है जो उस समय से चले आते हैं जब भारतीय और ईरानी आर्य्यों के पूर्वज एक साथ रहते थे।

भाष्य

तम का अर्थ अंधकार और निष्क्रियता, जड़ता, अपरिवर्तनशीलता होता है। इसलिये यह शब्द लाक्षणिक रूप से ब्रह्म और माया दोनों के लिये प्रयुक्त हो सकता है। अतः ईश्वर तम से ढका तम हुआ क्योंकि वह माया-शबल ब्रह्म है। जड़ अज्ञान-स्वरूपा माया जो ज्ञान से नष्ट हो सकती है तुच्छ भी कही जा सकती है। उसके विरुद्ध ब्रह्म अभु अर्थात् सब कुछ है। अन्यत्र श्रुति कहती भी है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—सचमुच यह सब ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से निकला है। उसका अर्थ है विस्तृत, फैला हुआ। इस कारण दिक् से परे होते हुए भी उसे व्यापक कह सकते हैं। अतः दोनों प्रकार से अभु शब्द ब्रह्मवाची है। इसलिये तुच्छ से ढका हुआ अभु, यह पद ईश्वर के लिये ही आया है। इस वाक्य का यह भी अर्थ किया जाता है कि सब कुछ अमूर्त और शून्यवत् था*। सलिल जल को कहते हैं। पहिले मंत्र में जल का अभाव सूचित किया जा चुका है। अतः यहाँ सलिल का अर्थ सलिलवत् जलवत् करना होगा। अपने स्वरूप से जल अप्रकेत, विभागहीन, चिह्नहीन, भेदलिङ्गहीन है। उपाधियों में पड़कर वह बूँद, पुष्कर, नदी, समुद्र, भाप, हिम आदि बनता है, परंतु स्वतः इन सबसे परे है। इसी प्रकार उस समय ईश्वर, जो पीछे से नाना नामरूप-धारी हो गया, एकरस था।

उस ईश्वर के तप की महिमा से उस एक अर्थात् हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तप का अर्थ गर्मी करते हैं। पर ऐसा करने से तो कोई सहायता नहीं मिलती। ईश्वर में गर्मी कहाँ से आई? अन्यत्र श्रुति कहती है 'तस्य ज्ञानमयं तपः'—उसका तप ज्ञानमय है। ईश्वर का जो जगद्विषयक ज्ञान है वही उसका तप था। 'उसने तप किया' का अर्थ

---

* अभु की जगह आभु पाठ भी लिया जा सकता है। उस दशा में तुच्छ्य तथा आभु दोनों का एक ही अर्थ शून्य लेकर यह व्याख्या की जाती है कि शून्य से ढका शून्य था। इस व्याख्या के अनुसार शब्दांतर से तम से ढके तम वाली बात दुहराई गई है।

यह है कि उसके चित्त में—यद्यपि उस सर्वसाधनस्वतंत्र के संबंध में चित्त शब्द का प्रयोग अयुक्त है—जगदात्मक विज्ञान स्फुरित हुआ, भावी जगत् का स्वरूप उदित हुआ। ईश्वर की चेतनाभूमि से विचार, बौद्धिक लहरी के रूप में जगत् अंकुरित हुआ। इसके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ प्रकट हुए

मंत्र

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीत्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

भावार्थ

पहिले उसके मन से काम उत्पन्न हुआ, तब वह जो प्रथम बीज था। कवियों ने अपने हृदयों में मनीट् के द्वारा ढूँढ़कर असत् में सत् के स्थान को पाया।

भाष्य

हिरण्यगर्भ वस्तुतः ईश्वर से अभिन्न है। उसको ईश्वर का सक्रिय रूप, वह रूप जिसमें इस जगत् का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता है, कह सकते हैं। उसको प्रजापति भी कहते हैं। हिरण्यगर्भ का नाम वेद बारंबार लेता है। उदाहरण के लिये दशम मंडल के १२१वें सूक्त का पहला मंत्र देखिए—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्

आदि में हिरण्यगर्भ था। जन्म लेने पर, वह भूतों का एकमात्र स्वामी था। उसने पृथिवी और आकाश को स्थापित किया।

उसके मन से (या में) अर्थात् उसकी चेतना में काम उत्पन्न हुआ, एक इच्छा उठी। इस इच्छा को श्रुति ने कहीं काम, कहीं ईक्षा कहा है। उसका स्वरूप अन्यत्र स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे छांदोग्योपनिषत् में कहा है 'तदैक्षत बहु स्याम्' उसने इच्छा की कि मैं बहुत, अनेक हो जाऊँ। प्रश्न यह है कि ऐसी इच्छा क्यों हुई। कोई कोई सूफी यह कहते हैं कि उसको अपने को देखने की इच्छा हुई, इसलिये उसने अपने अनेक रूप बनाए। पर यह आत्मानुरक्ति भी तो दोष ही है। लीला करने की इच्छा भी निर्दोष नहीं है। आप्तकाम पूर्ण पुरुष में ये बातें न होनी चाहिएँ।

बात यह है कि इस प्रसंग में काम या इच्छा शब्द दो संबंधों में प्रयुक्त हुआ है—(१) हिरण्यगर्भ का जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और विनष्टि विषयक ज्ञान, (२) उसका संकल्प कि अब यह परंपरा चल निकले, जगत् जो उसकी चेतना में अब तक सूक्ष्म विज्ञान रूप से विद्यमान था अब मूर्त हो, विश्व का सृजन आरंभ हो। इस संकल्प का कारण यह था कि जीवों का संयुक्त अदृष्ट, उनके प्राक्तन कर्मों का सम्मिलित संस्कार अब पक गया था। अब तक जीव हिरण्यगर्भ में सिमटे हुए थे, अब उनको जगना था और अनुकूल कर्म और भोग सामग्री चाहिए थी। यह संस्कार ही भावी सृष्टि को नोदन दे रहे थे, उसके प्रेरक बन रहे थे। उन्हीं के कारण हिरण्यगर्भ ने सृष्टि-परक संकल्प किया। इससे ईश्वर की स्वतंत्रता में बाधा नहीं पड़ती। वह स्वयं नियम और स्वयं नियामक है। कर्म का अनुच्छेद्य विधान उससे अभिन्न है, इसलिये यह नहीं कह सकते कि वह अपनी स्वतंत्रता में आप बाधा डालता है। जिस प्रकार चुंबक की सन्निधि में लोहे के छोटे टुकड़े अपने आपको एक विशेष प्रकार से जमा लेते हैं उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के सान्निध्य से जीवों के कर्म जगत् की रचना कर लेते हैं। इतने में ही उसका स्रष्टापन है। यदि यह माना जाय कि वह जीवों को रचता है और अपनी इच्छा के अनुसार जगत् बनाता है तो फिर जीवों के सुख-दुःख और उनके भले-बुरे कामों का पूरा पूरा दायित्व उसके ऊपर आ जायगा।

काम के बाद हिरण्यगर्भ से प्रथम बीज, विराट् की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष छोटे से बीज में बंद रहता है उसी प्रकार यह महान् विश्वरूपी वृक्ष विराट् में स्थित था।

विराट् की अभिव्यक्ति के पीछे विकास का वेग बढ़नेवाला है और स्थूलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होनेवाली है इसलिये यह आवश्यक है कि परम-तत्त्व की ओर से ध्यान हटने न पाए, नानात्व के भीतर एकत्व का दर्शन होता रहे। इसी लिये मंत्र कहता है कि कवियों ने असत् अर्थात् माया में सत् अर्थात् ब्रह्म के स्थान को पाया। ब्रह्म का कोई दूसरा स्थान तो है नहीं, उसका साक्षात्कार करना, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अनुभव करना ही उसके स्थान की प्राप्ति है। यदि यह माना जाय कि यहाँ सत्

और असत् प्रथम मंत्र की भाँति पुरुष और प्रधान के लिये आए हैं तो यह अर्थ हुआ कि कवियों ने प्रधान में पुरुष को पाया अर्थात् प्रधान की महत् इत्यादि विकृतियों के जाल में घिरे हुए पुरुष का साक्षात्कार किया, अर्थात् मुक्त हुए। कवि शब्द वेदों में रसात्मक वाक्यों के रचयिताओं के लिये नहीं वरन् आत्मदर्शी योगियों के लिये आता है। स्वयं ईश्वर को कवि कहा गया है। इस वाक्य का कुछ लोग यों भी अर्थ करते हैं कि कवियों ने सत् और असत् का संबंध पाया या जाना। इससे भी भाव में कोई अंतर नहीं पड़ता। सत् और असत् का संबंध जान लेने पर भी उसी एकत्व का अनुभव होगा। सब प्रतीतियों के भीतर वही एक सत्ता झलकती है। यजुर्वेद के नरमेधाध्याय का १९वाँ मंत्र कहता है—"प्रजापतिश्चरति गर्भे अंतरजायमानो बहुधा विजायते।" अजन्मा होकर भी प्रजापति गर्भ में जाता है और बहुधा जन्म लेता है।

इसी प्रकार मुंडकोपनिषत् कहती है :

यथा सुदीप्तात्पावकात्स्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

जिस प्रकार प्रदीप्त आग से सहस्रों चिंगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार उस अक्षर से विविध वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और उसी में लीन होती हैं।

सत् इतनी उपाधियों से घिरा प्रतीत होता है कि उसे पाना सुकर नहीं है। उसका स्वरूप ऐसा छिपा है कि उसे कई जगह 'गुहाहित', गुफा में छिपा कहा है। कवियों ने उसका अनुसंधान मनीट् द्वारा किया। शंकराचार्य ने मनीट् की इस प्रकार व्याख्या की है—"मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियंतृत्वेनेति मनीट् तयाऽविकल्पायिष्या मनीषेति"—जो संकल्प-विकल्प रूपी मन का नियंत्रण करती है उस अविकल्पयित्री को मनीट् कहते हैं, अर्थात् शुद्ध असंदिग्ध ज्ञान देनेवाली बुद्धि मनीट् है। योगदर्शन के अनुसार योगी को अभ्यास के प्रताप से ऋतंभरा प्रज्ञा, सत्य से परिपूर्ण बुद्धि प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह अद्वैत ज्ञान तर्क से नहीं प्रत्युत योगाभ्यास द्वारा परिष्कृत बुद्धि से ही हो सकता है। हृदय शब्द भी बाहरी विषयों से हटाकर वृत्ति को अंतर्मुख करने की ओर संकेत करता है।

यहाँ पर कुछ लोगों को यह शंका होती है कि सारा ब्रह्म या ईश्वर विराट् और जगत् में परिणत हो गया या कुछ परिणत हुआ और कुछ शुद्ध ईश्वर रह गया। पहिले तो ब्रह्म के लिये परिणाम या परिवर्तन का प्रयोग नहीं किया जा सकता। उसमें जगत् का अध्यास मात्र है, अर्थात् हम अज्ञानवशात् जगत् का आरोप करते हैं। फिर, टुकड़े वहाँ होते हैं जहाँ कम से कम दो वस्तुएँ हों—एक विभाजक, दूसरी विभाज्य। ईश्वर अकेला है, फिर उसके खंड कैसे हो सकते हैं? उसके संबंध में अंश और अंशी का व्यवहार इसी लिये होता है कि हमारी बुद्धि और भाषा में सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करने और व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इस संबंध में नीचे के दोनों मंत्रों के अर्थ पर मनन करना चाहिए :—

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि ॥ (ऋक् १०,९०-३)

यह सब उसकी महिमा है, (विराट्) पुरुष इससे बड़ा है। उसके एक चौथाई में सारा विश्व है, तीन चौथाई अमृत है और द्युलोक में है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमदाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह (ईश्वर) पूर्ण है, यह (जगत् या प्रत्यगात्मा) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकाला जाता है। पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही बचता है।

विराट् ईश्वर से अभिन्न है, ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा श्रुति बारंबार प्रतिपादित करती है। विराट् का वर्णन करते हुए, यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का १८वाँ मंत्र कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैं तम से परे विद्यमान तेजःस्वरूप उस महान् पुरुष को जानता हूँ। उसको जानकर ही मृत्यु के पार जाता है, मोक्ष के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

मंत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

भावार्थ

इनकी किरण तिरछी फैली, नीचे थी, ऊपर थी। बीजधारक थे, बड़ी शक्तियाँ थीं। स्वधा नीचे थी, प्रयति ऊपर था।

भाष्य

इसके पहिले के मंत्र में विराट् को प्रथम बीज कहा है। एक ओर तो वह इस संपूर्ण जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम, जड़ चेतन है उसकी समष्टि है, दूसरी ओर ईश्वर की ही अभिव्यक्ति होने से इस जगत् में सर्वत्र व्याप रहा है और, साथ ही, इसके बाहर भी है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०म मंडल के १९०वें सूक्त) के प्रथम दो मंत्र कहते हैं :—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

(विराट्) पुरुष सहस्रों सिर, सहस्रों आँख, सहस्रों पाँव वाला है। वह ब्रह्मांड को चारों ओर से व्याप्त करके दशांगुल को अतिक्रमण करता है (अर्थात् इस दस दिशाओंवाले जगत् के बाहर है)।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह पुरुष ही है। वह अमृतत्व का स्वामी है और इस भोग्य जगत् के बाहर जाता है।

इसी सूक्त में आगे चलकर दिखलाया है कि किस प्रकार सभी ऊँचे नीचे भुवन, सूर्य्यादि खेचर पिंड, सभी मनुष्य और अन्य प्राणी उसके शरीर के अवयव हैं।

जब जगत् का विकास होता है तो वह ऊपर, नीचे, तिरछे, दिक् की सारी दिशाओं में और आगे पीछे काल की दोनों दिशाओं में फैलता है। इसके साथ ही उसकी अनेकता, उसके अंगभूत द्रव्यों का नानात्व, भी बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि उनको गिनना असंभव है। परंतु विश्लेषण करने से इस नानात्व के भीतर दो पदार्थ मिलते हैं : पुरुष और प्रधान। पुरुषों की संख्या का अंत नहीं है। पुरुष ही जगत् का केंद्र है। यदि उसको अपने कर्मों के अनुसार कर्म और भोग-

क्षेत्र की आवश्यकता न हो तो विश्व का सृजन ही न हो। इसी लिये पुरुष को बीजधारक कहा है। प्रधान अंतःकरण, इंद्रियगण और भौतिक द्रव्यों का उपादान कारण प्रकृति है। उसी में से ये सब निकली हैं और स्वयं सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की साम्यावस्था है। उसको 'महा-शक्तियाँ' कहा है। स्वधा का अर्थ अन्न है। प्रयति कहते हैं यत्न करनेवाले को। स्पष्ट ही है कि यहाँ इन शब्दों का अर्थ है भोग्य और भोक्ता। प्रधान भोग्य, पुरुष भोक्ता है। निर्लेप होते हुए भी प्रधान के सान्निध्य में पुरुष अपने में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आरोप कर लेता है। ऊपर और नीचे के स्थान में कुछ लोग 'इस ओर', 'उस ओर' अर्थ करते हैं। इससे भी भाव में कोई विरोध नहीं आता; पुरुष और प्रधान का द्रष्टा-दृश्य-संबंध बना रहता है*।

---

* इसके पश्चात् के सृष्टिक्रम पर एक दृष्टि—

सूक्त पुरुष और प्रधान, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का उल्लेख करके तूष्णीं होता है। इसके आगे के क्रम का वर्णन सांख्य और विज्ञान करते हैं। एक समय था जब विज्ञान दर्शन से बहुत दूर जा पड़ा था, परंतु आज दोनों के बीच की खाई पटती जाती है। इस स्थान पर मैं ऋग्वेद के दशम मंडल के १६०वें सूक्त की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह कहता है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥

(१) उद्दीप्त तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए; तब रात्रि उत्पन्न हुई, उससे समुद्र हुए।

(२) समुद्र से संवत्सर का जन्म हुआ। विश्व के स्वामी ने अपने निमेषोन्मेष से (पलक मारने से) दिन-रात का विधान किया।

(३) विधाता ने अपूर्व के अनुसार सूर्य, चंद्र, पृथिवी, स्वर्ग, अंतरिक्ष की कल्पना की।

यह वृत्तांत नासदीय सूक्त में दिए वृत्तांत का पूरक माना जा सकता है। ऋत उस दैवी नियम को कहते हैं जिसके वश में रहकर सब वस्तुएँ अपने अपने धर्म का अनुसरण करती हैं। इसलिये ऋत और सत्य प्रधान और पुरुष को कह

सकते हैं। अथवा बाह्य जगत् की नियामक शक्ति को ऋत और धर्म को, जिसका अनुसरण करके मनुष्य अभ्युदय प्राप्त करता है, सत्य कहा जा सकता है। सृष्टि के प्रसंग में तप शब्द की व्याख्या पीछे तीसरे मंत्र के भाष्य में की जा चुकी है। यदि तप शब्द का प्रचलित अर्थ लिया जाय तो इस पंक्ति का यह भाव भी हो सकता है कि आजानदेवों के तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। उनको ही इस भूर्लोक का नियंत्रण करना है, अतः वे ही प्राणियों और जड़ वस्तुओं को अपने तपोजन्य प्रभाव से नियमों की शृंखला में रखते हैं।

इसके बाद की पंक्तियों में आज से करोड़ों वर्ष पहिले की उस अवस्था का वर्णन प्रतीत होता है जब पृथिवी घने वाष्प सदृश द्रव्यों के वातावरण से घिरे तप्त पिंड के समान थी। उसका ऊपरी तल ठोस हो गया था परंतु जल रहा था। ऊपर का आवरण ठंडा होता था और नीचे गिरता था, परंतु भूतल पर पहुँचते ही भाप बनकर ऊपर को फेंक दिया जाता था। लाखों वर्षों तक यह अजस्र धारा का बरसना और भापों का तत्काल उछलना, फिर मेघों का बनना और बरसना जारी रहा। ज्योतिषियों का कहना है कि बृहस्पति पर आज यही हो रहा है। वह पृथिवी से बड़ा ग्रह है, इसलिये जो बातें पृथिवी पर थोड़े दिनों में हो गईं उनको उस पर अधिक समय लगना स्वाभाविक है। जब तक यह सब होता रहा तब तक यदि पृथिवी पर कोई होता तो उसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि के दर्शन न हो सकते, चारों ओर घोर अंधकार ही जान पड़ता। उस मोटे आवरण में से प्रकाश की किरणें पार नहीं आ जा सकती थीं। इसी लिये मंत्र में पहिले रात्रि का उत्पन्न होना बतलाया गया है। धीरे धीरे भूतल ठंडा हुआ। तब ऊपर से गिरनेवाला जल उस पर टिकने लगा और समुद्र रूप से जमा होने लगा। इसी लिये रात्रि से समुद्र की उत्पत्ति कही गई है।

जब अधिक मात्रा में गाढ़ी भाप नीचे समुद्र रूप में जमा हो गई तो ऊपर का आवरण आज कल जैसा पारदर्शक हो गया। आकाश में सूर्य्य का राशियों में भ्रमण और सूर्य्य-चन्द्रादि का दैनंदिन ध्रुव-परिक्रमण देख पड़ने लगा। दिन-रात का भान हुआ। इसलिये यह कहना उचित है कि समुद्र से सवत्सर और दिन-रात बने। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपादान कारक (पंचमी विभक्ति) का सूचक प्रत्यय 'से' उत्तर काल का भी बोधक होता है अर्थात् जहाँ यह कहा गया है कि समुद्र से संवत्सर बना, वहाँ यह अर्थ लिया जा सकता है कि समुद्र के पीछे संवत्सर बना।

अंतिम मंत्र यह बतलाता है कि जगत् के स्रष्टा ने सब वस्तुओं की रचना अपूर्व के अनुसार की। कर्म्मों के संस्कार को अपूर्व कहते हैं। इसका दूसरा नाम अदृष्ट भी है। जिन जीवों को इन नवसृष्ट लोकों में रहना था उनके अपूर्व के अनुसार, उनके भोग और कर्म के उपयुक्त, भूर्लोक आदि को बनाया।

मंत्र

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत, कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

भावार्थ

कौन जानता है, कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई, किससे उत्पन्न हुई ? देवगण इसकी उत्पत्ति के पीछे हुए, फिर कौन जानता है कहाँ से हुई ।

भाष्य

इस जगत् के मूल में जो ब्रह्म पदार्थ है उसका तथा प्रतीयमान विश्व के सृष्टि-क्रम का ज्ञान, जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, केवल तर्क से नहीं प्राप्त हो सकता। वह तो निदिध्यासन, योगाभ्यास, द्वारा परिष्कृत बुद्धि में

इसलिये धाता पर मनमानेपन का आरोप नहीं हो सकता। वह यदि दूसरों से नियम-पालन की आशा करता है तो स्वयं भी अपने नियम का, जो वस्तुतः उसके स्वभाव का नामांतर है, पालन करता है। कुछ लोग 'यथापूर्वम्' पद का 'यथा पूर्वम्' विच्छेद करके 'पूर्व के अनुसार' अर्थ लगाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि धाता ने सूर्य्यादि को उसी प्रकार बनाया जैसे कि वे पहिले, इससे पहिले के कल्पों, सृष्टिकालों, में बना करते थे। यदि यह अर्थ ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक कल्प में दूसरे की पूरी पूरी नकल होती है। असंख्येय जीवों की प्रवृत्तियाँ, उनके प्रवृत्ति-प्रेरित कर्म, उन कर्मों के असंख्य संस्कार, उन संस्कारों से विशिष्ट भोग-सामग्री, इस भोग-सामग्री के अनुकूल लोक और लोकों के अवयव—यह सब कल्पानुकल्प एक से होते जायँ, ऐसा मानना बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होता। अनंत वैषम्य की ओर से आँख बन्द कर लेने पर ही हम ऐसा मान सकते हैं कि किसी कल्प-विशेष की सृष्टि अपने पूर्वकल्प की नकल होती है। अतः मैं 'यथापूर्वम्' का पदच्छेद 'यथा अपूर्वम्' करना ही ठीक समझता हूँ।

मैं यह दावा नहीं करता कि जिस ऋषि ने इस सूक्त को अवतरित किया, उसके सामने वह चित्र था जिसका वर्णन आजकल के ज्योतिषी और भूगर्भशास्त्री करते हैं। मैं केवल इन अद्भुत मंत्रों की ओर ध्यान आकर्षित कराता हूँ। ऋषियों को क्या और कितना ज्ञान था, इसके विषय में प्रत्येक मनुष्य अपना मत स्वतः स्थिर कर ले।

यदि मेरी व्याख्या ठीक है तो इन मंत्रों में जिस अवस्था का वर्णन है वह प्रकृति से महाभूतों के निकलने के पीछे की है। इन दोनों के बीच की जो अवस्था थी उस पर दूसरे भाग में विचार किया गया है।

ही उदित होता है। लाखों मनुष्यों में कोई बिरला ही होता है जिसको सच्ची जिज्ञासा होती है और जिज्ञासुओं में भी ऐसे थोड़े ही होते हैं जो उस कठिन मार्ग पर, जिसे श्रुति क्षुरस्य धारम्—छुरे की धार—कहती है, चलने की पात्रता रखते हैं। जिन लोगों ने आत्मानुभव प्राप्त कर भी लिया है, उनमें सबमें इतनी योग्यता नहीं होती कि दूसरों को बोध करा सकें। गुरु का लक्षण यह है कि वह श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो। जिसने श्रवण और मनन करके विषय का अध्ययन किया है, वह श्रोत्रिय है। वह शिष्य की शंकाओं का समाधान कर सकता है। जिसने समाधिस्थ रहकर साक्षात्कार किया है वह ब्रह्मनिष्ठ है। वह शिष्य को मार्ग का उपदेश दे सकता और बीच में आनेवाली कठिनाइयों का निवारण कर सकता है। ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं। यही बात शब्दांतर से कठोपनिषत् में कही गई है :—

"आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः"

इसका कहनेवाला विचित्र है, इसका प्राप्त करनेवाला कुशल है। योग्य गुरु से उपदिष्ट इसका जाननेवाला आश्चर्य का विषय है। ये बातें सबको बतलाई भी नहीं जा सकतीं। सद्गुरु शिष्य की पात्रता की परीक्षा करके ही उसको रहस्य की दीक्षा देता है। प्रश्नोपनिषत् में पिप्पलाद कौसल्य अश्वलायन से कहते हैं "तू बड़े ऊँचे प्रश्न (अति प्रश्नान्) पूछता है परंतु तेरी ब्रह्म में अनुरक्ति है इसलिये मैं तुझे बतलाऊँगा।" जिसको एतद्विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो और सद्गुरु का सत्संग प्राप्त हो वह परम सौभाग्यशाली है।

देवगण भी इस रहस्य को नहीं जानते। देवों के दो भेद हैं। एक तो कर्मदेव, दूसरे आजानदेव। जो मनुष्य अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्गादि लोकों में जाते हैं और वहाँ पुण्य के क्षय होने तक रहते हैं उनको कर्मदेव कहते हैं। ये लोग तत्तत् लोक के सुखों का तो अनुभव प्राप्त करते हैं पर उनके अधिष्ठाताओं के अधिकारों के भागी नहीं होते। जो लोग बड़ी उग्र तपस्या करते हैं वे अगले कल्प में दिव्य लोकों में उच्च कोटि के अधिकार और वैभव का उपभोग करते हैं। वे जगत् में ऋत का पालन करते हैं और ऊपर के लोकों के अधिष्ठाता होते हैं। उनको आजानदेव कहते हैं। उनका ज्ञान और बल विशाल है। फिर भी वे सृष्टि के आदि

में तो नहीं ही थे। जब वह सूक्ष्म सामग्री, जिससे उनके शरीर बने हैं, बन गई अर्थात् जब पुरुष और प्रधान की क्रीड़ा आरंभ हो गई उसके बाद ही वे अपने अपने काम में लग सके। यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का २०वाँ मंत्र विराट् के संबंध में कहता है—

यो देवेभ्यऽ आतपति यो देवानाम्पुरोहित:
पूर्वो यो देवेभ्यो जात: ।

जो देवों के द्वारा चमकता है, जो देवों के आगे रखा हुआ है, जो देवों से पहिले उत्पन्न हुआ।

प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त का ५वाँ मंत्र देवों की एतद्विषयक अज्ञता इन शब्दों में व्यक्त करता है—

पाकं पृच्छामि भं न सा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि

मैं अज्ञानी पुरुष यह पूछता हूँ। देवगण भी इसे नहीं जानते। यह उनसे छिपा है।

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि कोई देव-शरीरधारी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। साधारणत: तो आजानदेव मुक्त नहीं हैं पर यदि उनमें से किसी में कर्मविपाक से जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उनके अपेक्षया शुद्ध अंत:-करणों में ज्ञान का उदय होना कठिन नहीं है। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। केनोपनिषत् में एक इंद्र का उमा हैमवती से ज्ञान प्राप्त करना दिखलाया गया है। बृहदारण्यक उपनिषत् में लिखा है कि दैत्यराज विरोचन के साथ किसी इंद्र ने ब्रह्मदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया था। विरोचन तो सत्पात्र न था पर इंद्र पूर्ण अधिकारी थे, अत: उनको ज्ञान की उपलब्धि हुई।

मंत्र

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

भावार्थ

यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की, जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है या, स्यात्, वह भी नहीं जानता।

भाष्य

पहिलेवाले मंत्र के अर्थ का ही इसमें विशदीकरण है। ईश्वर इस जगत् का स्वामी है। 'स्यात् वह भी नहीं जानता' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर का ज्ञान सीमित है; वस्तुतः उसका ज्ञान निःसीम, निर्बाध है। योगदर्शन के अनुसार वह 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—काल के घेरे से बाहर होने के कारण पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। यहाँ उसके संबंध में शंका-सूचक शब्दों का प्रयोग करके विषय की कठिनता और श्रम की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। पतंजलि कहते हैं कि 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः'—दीर्घकाल तक निरंतर सत्कार के साथ सेवन करने से योग की दृढ़ भूमिका प्राप्त होती है। व्यास भी 'असकृत् अभ्यास', निरंतर अभ्यास, पर जोर देते हैं।

ईश्वर का निवास परम व्योम में है, इस कहने से यह शंका न होनी चाहिए कि उसका कोई पृथक् लोक है। परम व्योम में, व्योम के ऊपर, जैसा कि कुछ लोग अर्थ करते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि वह दिक्काल के परे है। उस व्योम को जिसमें ईश्वर रहता है, चिदाकाश कहते हैं। वह चेतनात्मक, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। वह ज्ञान सब ज्ञेय विषयों का अधिष्ठान होने से आकाश की भाँति व्यापक है, इसी लिये उसे व्योम कहते हैं।

अध्यक्ष का व्यावहारिक अर्थ स्वामी है। यों उसका शब्दार्थ है आँख के ऊपर रहनेवाला। आँख इंद्रियों का उपलक्षण है। जो आँख, यानी सब इंद्रियों, के ऊपर, परे, है वह अध्यक्ष है। इंद्रियाँ ज्ञान-साधन हैं। जो ऐसे सब साधनों के परे है, जो उनका विषय नहीं है, वह अध्यक्ष कहला सकता है। इस अर्थ में यह शब्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हो सकता है। ब्रह्म के लिये यह कहना अनुचित नहीं है कि वह सृष्टि-संबंधी बातों को नहीं जानता। ब्रह्म सब भेदों से विमुक्त है। ब्रह्मपद में जगत् का अभाव है। ब्रह्म के लिये न कुछ ज्ञेय है, न वह ज्ञाता है। ब्रह्म में सृष्टि और स्रष्टा, द्रष्टा और दृश्य, जड़ और चेतन, ईश्वर और जीव सभी भेदों का विलय हो जाता है।

यह कहकर श्रुति शुद्ध ब्रह्मस्वरूप और, इस व्याज से, ब्रह्मज्ञान-रूपी परम पुरुषार्थ, की ओर संकेत करके अब विराम करती है।

२

दर्शनों में सृष्टिक्रम

(क) समस्या

भारतीय दर्शन की सभी विचारधाराओं में पंचमहाभूत का नाम आता है। संस्कृत तथा प्रचलित भारतीय भाषाओं में लिखे सभी धार्मिक ग्रंथ इनके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और अशिक्षित ग्रामीण तक ऐसा मानता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवधारियों के शरीरों से लेकर नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, चंद्र-सूर्यादि आकाशचारी पिंड तक इन भूतों से ही बने हैं। ऐसा समझ में आता है कि जिन शब्दों का प्रचार इतना व्यापक है उनका अर्थ भी स्पष्ट और सर्वसम्मत होगा। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि यह कल्पना निराधार है। इतना तो सभी मानते हैं कि आत्मा और चित्त के अतिरिक्त इस जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है वह पांचभौतिक है, परंतु भूतों के स्वरूप और अभौतिक जगत् के साथ उनके संबंध के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। जो दर्शन के पंडित हैं वे अपने अपने शास्त्र की परिपाटी पर दृढ़ता से स्थिर हैं। शेष मनुष्य, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, इनका प्रयोग बिना कोई ठीक अर्थ लगाए ही कर दिया करते हैं। पर इस वैज्ञानिक युग में महाभूत केवल शास्त्रार्थ का विषय नहीं रह सकते। विज्ञान ने इस संबंध में बड़ी खोज की है और जगत् जिस सामग्री से बना है, उसके विषय में उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि इस क्षेत्र में दर्शन का अपना कुछ वक्तव्य है तो वह ऐसा होना चाहिए जिसका विज्ञान के साथ सामंजस्य हो अन्यथा वह अमान्य होगा।

मेरा ऐसा विश्वास है कि जिन ऋषियों ने भारतीय दर्शन की नींव डाली थी वे योगी थे और उनको एतद्विषयक ज्ञान था। यह ज्ञान उनको समाधि की अवस्था में प्राप्त हुआ था परंतु जब वह उनके शिष्य-प्रशिष्यों में फैला तो अक्षुण्ण न रह सका, इसलिये कि ये लोग उस प्रकार के अनुभव से शून्य थे। उन दिनों विज्ञान की उन्नति तो हुई नहीं थी इसलिये सामान्य जनता के पास इस प्रकार के ज्ञान का कोई साधन न था। यदि ऐसा साधन होता और व्यावहारिक ज्ञान की प्रचुर मात्रा होती तो योगानुभूति से

उत्पन्न ज्ञान उसके साथ एक शृंखला में बाँधा जा सकता और उसकी परंपरा न बिगड़ने पाती। ऐसा न होने से जो कुछ पूर्वज लोग संकेत रूप से कह गए उसका जिससे जो अर्थ लगाते बना लगाया गया। परिणाम यह हुआ कि बुद्धि-विलास और वाग्युद्ध की तो विशाल सामग्री प्रस्तुत हो गई परंतु सत्य कोसों दूर पड़ गया। इतनी भूल आचार्यों ने भी की कि नए पारिभाषिक शब्द रचने के स्थान में उन्होंने अर्थ बदलकर कुछ प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। ये शब्द अपने पुराने अर्थों से पीछा न छुड़ा सके और पीछे चलकर भ्रामक विचारों के जनक बन गए। दूसरे देशों में भी प्रचलित शब्दों के प्रयोग से बहुत गड़बड़ मचती रहती है।

अब मैं यह दिखलाऊँगा कि महाभूतों के संबंध में हमारे यहाँ कौन कौन से विचार प्रचलित हैं। मुख्यतया वेदांत, सांख्य और वैशेषिक ने इस प्रश्न पर ऊहापोह किया है। मैं जानता हूँ कि वेदांत के अंतर्गत अद्वैतादि कई विभिन्न वाद हैं पर इस संबंध में उनमें कोई बहुत बड़ा मतभेद नहीं है, इसलिये सुविधा की दृष्टि से यहाँ शांकर मत के अनुसार ही प्रतिपादन किया जायगा। वैशेषिक और न्याय का भी आपस में अविरोध है इसलिये जहाँ जहाँ मैंने वैशेषिक न्याय शब्द का प्रयोग किया है वहाँ वहाँ न्याय का भी ग्रहण करना चाहिए।

वेदांत के मत का आधार उपनिषद् का यह वाक्य मानना चाहिए—एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः* इत्यादि। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से अप् और अप् से क्षिति। आकाश का गुण शब्द है, वायु का शब्द और स्पर्श, तेज का शब्द, स्पर्श और रूप, अप् का शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा क्षिति का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। आत्मा परमात्मा और ब्रह्म से अभिन्न है, अतः यह कह सकते हैं कि पाँचों भूत ब्रह्म से निकले हैं। पर उनकी उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई है। पहले आकाश आविर्भूत हुआ, फिर क्रमात् वायु आदि निकले। यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म अविकारी है परंतु मायावशात् उसमें यह सब प्रतीति होती है।

* तैत्तिरीय उपनिषद्—वल्ली २, अनुवाक १।

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् के मूल में पुरुष और प्रधान हैं। पुरुष चिन्मात्रधर्म्मा और संख्या में अगण्य हैं। प्रधान जड़ और एक है। वह सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। पुरुष के सान्निध्य से साम्य भग्न हो जाता है और प्रधान में विकार उत्पन्न होने लगते हैं। पुरुष अविकारी है परंतु जिस प्रकार स्फटिक पर पास में रखे हुए रंगीन प्रकाश की आभा पड़ती है वैसे ही उस पर भी प्रधान के विकारों का कृत्रिम प्रभाव पड़ता है और वह अपने को सुखी, दुःखी, कर्ता, भोक्ता मानने लगता है। प्रधान का पहिला विकार बुद्धि है। बुद्धि से अहंकार निकलता है। अहंकार से एक साथ ही सोलह पदार्थ—पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्म्मेंद्रिय, मन जो उभयात्मक है अर्थात् ज्ञान और कर्म्म दोनों का साधन है, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये पाँचों तन्मात्राएँ। इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, अप् और क्षिति इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति हुई। सांख्य सिद्धांत के इस स्वरूप का निरूपण ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा वाचस्पति की सांख्यतत्त्वकौमुदी में किया गया है*।

सांख्य दर्शन ने सृष्टि का जो क्रम बतलाया है वह बड़े महत्त्व का है। थोड़ा सा उलट-फेर करके इस क्रम का वेदांत के साथ समन्वय किया जा सकता है और सच बात यह है कि प्रचलित पुराण-सम्मत वेदांत शांकर अद्वैतवाद और सांख्य मत के सम्मिश्रण से ही बना है।

वैशेषिक के आचार्य्यों का कहना है कि नव नित्य पदार्थ हैं:—क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा। आत्मा के दो भेद

---

* सांख्य की पद्धति यों भी बतलाई जाती है कि अहंकार से शब्द तन्मात्रा का जन्म हुआ। उसमें से आकाश निकला। आकाश से स्पर्श तन्मात्रा और उससे वायु निकला। वायु से रूप तन्मात्रा और रूप से तेज का प्रादुर्भाव हुआ। यों ही अंत में अप् से गंध तन्मात्रा और गंध से क्षिति का जन्म हुआ। इस वर्णन पर वेदांत की जो छाप पड़ी है वह स्पष्ट प्रतीत होती है। मैंने स्वयं इसे ही माना है। इसका विस्तृत वर्णन आगे आएगा। प्रायः सभी पुराणों ने इसे ही स्वीकार किया है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत ३रा स्कंध, ५वाँ अध्याय, १८ से ३७ श्लोक देखिए।

हैं, जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा असंख्य हैं, परमात्मा एक है। मन भी असंख्य हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ एक मन संबद्ध है। आकाश अखंड और एकरस है। शेष चारों भूतों के बहुत छोटे छोटे टुकड़े हैं, जिनको परमाणु कहते हैं। परमाणुओं के आपस में मिलने से भूतों के बड़े बड़े समूह और पिंड बनते हैं। गौतम और कणाद के सूत्र इस मत के प्रामाणिक आधार हैं। भूतों के गुण वही हैं जो वेदांत दर्शन में बतलाए गए हैं।

इस संक्षिप्त निदर्शन से इन तीन सिद्धांतों का भेद स्पष्ट हो जायगा। वेदांत के अनुसार महाभूत क्रमशः ब्रह्म से निकले हैं और शब्दादि इनके गुण हैं। सांख्य के मत से पुरुष के सान्निध्य में प्रधान में विकार उत्पन्न होता है। तन्मात्राएँ इसी प्रकार की क्रमागत विकार हैं। इनमें से महाभूत निकले हैं। महाभूत एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, अर्थात् इनमें कोई निमित्त-नैमित्तिक संबंध—कारण-कार्य्य संबंध—नहीं है। वैशेषिक कहता है कि पाँचों महाभूत नित्य और स्वतंत्र हैं और शब्दादि इनके गुण हैं। यह भेद नीचे के चित्र से समझ में आ सकता है:—

वेदांत

नित्य पदार्थ

|

ब्रह्म—चिन्मात्र, एक

|

आत्मा—चेतन, अनेक

|

आकाश—गुण-शब्द

|

वायु—गुण-शब्द, स्पर्श

|

तेज—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप

|

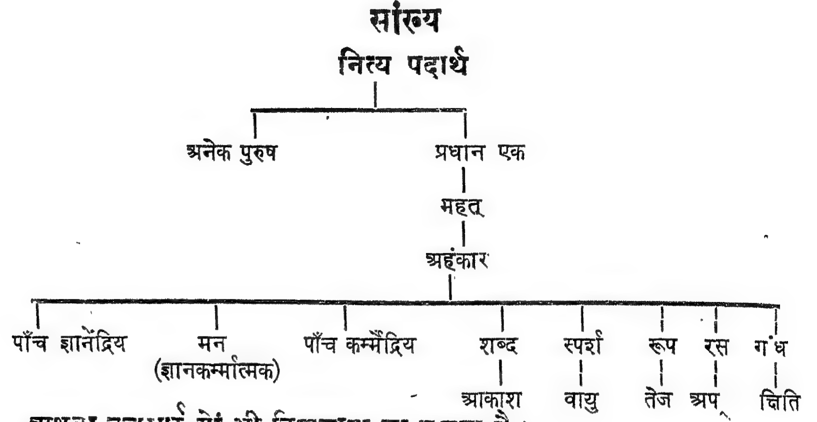
अप्—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस

|

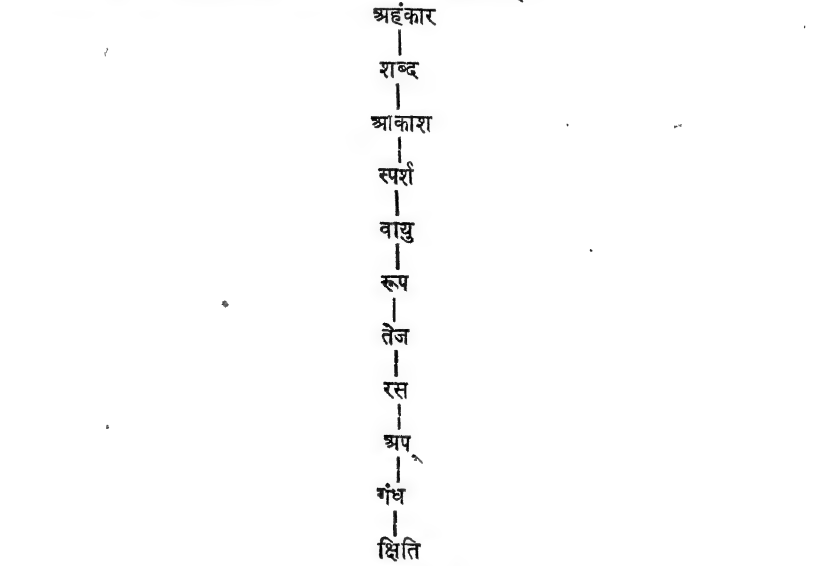
क्षिति—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध

टि०—यदि उपनिषत्-वाक्य का तात्पर्य्य परमात्मा से हो तो ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा कैसे पड़ती है तथा यदि उसका तात्पर्य्य प्रत्यगात्मा से हो तो ब्रह्म शरीरी कैसे बनता है, यह सब वेदांत के प्रामाणिक ग्रंथों में देखना चाहिए।

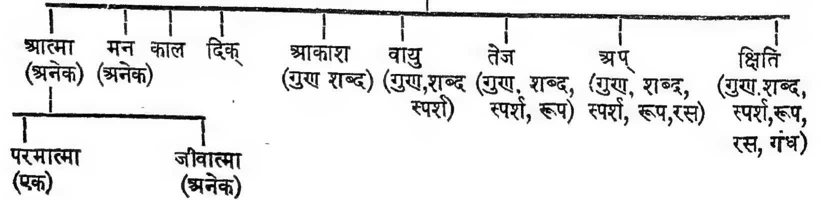
सांख्य



अथवा उत्तरार्ध यों भी दिखलाया जा सकता है :—

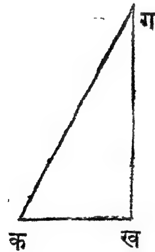


वैशेषिक



इन भेदों का निर्देश कर देना ही हमारी समस्या को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। यहाँ केवल कहने के ढंग में भेद नहीं है, प्रत्युत मूल सिद्धांतों में गहरा भेद है। इतना तो कहा जा सकता है कि जिन रूपों में इनका प्रतिपादन होता है उन रूपों में तीनों सत्य नहीं हो सकते। तीन में से एक ठीक हो सकता है या तीनों गलत हो सकते हैं।

वैशेषिक का मत तो बहुत ही स्थूल है। अनात्मवादी पाश्चात्य वैज्ञानिक या समाजवादी दार्शनिक भी इतने अधिक स्वतंत्र पदार्थों की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं समझता। उनकी परमाणुवाद की सूझ प्रशंसनीय है, परंतु परमाणुओं को त्रसरेणु—सूर्य की किरण में देख पड़नेवाले रजकण—के छठे भाग के बराबर मानना हास्यास्पद है। इससे भी बढ़कर हास्यास्पद उनका यह आग्रह है कि सोना शुद्ध तेज है, उसमें किसी और महाभूत की मिलावट नहीं है। गणित के सहारे से कमलाकर ने परमाणुवाद का जो खंडन किया था वह रोचक है। मान लीजिए कि क ख एक परमाणु है और ख ग दूसरा परमाणु, जो उससे लंब बनाता हुआ खड़ा है। इस दशा में रेखागणित के नियम



के अनुसार $\text{क ग}^2 = \text{क ख}^2 + \text{ख ग}^2$

$$= (\text{१ परमाणु})^2 + (\text{१ परमाणु})^2$$

$$= (\text{२ परमाणु})^2$$

अतः $\text{क ग} = \sqrt{\text{२}}\ \text{परमाणु}$

$$= \text{१·४१४..........परमाणु}$$

परमाणुवाद के अनुसार परमाणु के टुकड़े हो नहीं सकते। या तो एक परमाणु हो सकता है या दो हो सकते हैं परंतु १·४१४ अर्थात् लगभग डेढ़ परमाणु नहीं हो सकते। परंतु गणित का सिद्धांत सार्वभौम है, इसलिये क ग की लंबाई १·४१४ परमाणु होनी ही चाहिए। इससे यह निकला कि परमाणुवाद, यानी यह मानना कि भूतों के अंशरूप परमाणु अविभाज्य हैं, निराधार है। मैं नहीं कह सकता कि इस तर्क की तह में जो भूल है उसे पकड़कर परमाणुवाद कहाँ तक अपनी रक्षा कर सका है।

जब से इस देश में विज्ञान का पठन-पाठन आरंभ हुआ तभी से कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया कि आकाशादि की वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार व्याख्या की जाय, पर अभी तक ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हुए। साधारण प्रकार से यह समझ में आता है कि क्षिति का अर्थ ठोस अवस्था और अप् का द्रव अवस्था है। यहाँ तक तो बात बन जाती है। इसके पीछे विज्ञान और अपने नित्य के अनुभव के अनुसार वाष्पीय अवस्था आती है। उससे भी सूक्ष्म विद्युद्युक्त कणों की अवस्था होती है। सबसे पीछे आकाश आता है। ऐसा ही मानकर लोगों ने अर्थ किया है पर इसमें अड़चनें पड़ती हैं। पहिले तो आकाश नाम के किसी पदार्थ के होने में वैज्ञानिकों को स्वयं संदेह होने लगा है। फिर वाष्पीय दशा के लिये वायु और विद्युन्मय दशा के लिये तेज नाम कुछ ठीक जँचते हैं, परंतु क्रम में पहिले तेज तब वायु आता है। विज्ञान की दृष्टि में आकाश का शब्द से कोई संबंध नहीं है।

मैं इस निबंध में यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि भूतों के नाम और गुणों की ऐसी व्याख्या की जा सकती है जो सांख्य-वेदांत-सम्मत हो और इसके साथ ही विज्ञान के अनुकूल हो। परंतु इस काम को आरंभ करने के पहिले एक और शब्द पर विचार करना आवश्यक है। वह शब्द 'प्राण' है। प्राण का कोई उपयुक्त विदेशी वैज्ञानिक या व्यावहारिक पर्याय नहीं है; कम से कम, मुझे उसका ज्ञान नहीं है। इसलिये इसके संबंध में आधुनिक विज्ञानगत कोई उलझन तो नहीं पड़ती, परंतु अपने पुराने दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक वाङ्मय में कठिनाइयाँ पड़ती

हैं। इसकी ठीक ठीक व्याख्या न होने से अर्थ का विपर्यास हो जाता है। इसलिये मैं भूतों के विषय में विचार करने के पहिले प्राण पर ही विचार करूँगा।

आगे के विचार में मैंने बराबर योगशास्त्र और योगियों के अनुभव से सहायता ली है। मैं स्वतः इसको ज्ञान का पुष्टतम साधन मानता हूँ। यह ठीक है कि यह साधन सर्वसुलभ नहीं है, फिर भी इस ज्ञानसामग्री का उपयोग किसी अन्य सामग्री के उपयोग से कम उचित नहीं हो सकता।

(ख) प्राण

प्राण का जिक्र विशेष रूप से योग के ग्रंथों में आता है। योग का चर्चा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-बहुत सभी उपनिषदों में है। कुछ, जैसे क्षुरिका और वज्रसूचिका, तो योग का मुख्य विषय ही है। पातंजल सूत्र एतत्संबंधी सिद्धांत-ग्रंथ है और व्यावहारिक उपदेश शिवसंहिता, घेरंड-संहिता, हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति जैसी पोथियों में मिलते हैं। पुराणों में यत्र-तत्र बहुत अच्छा वर्णन है। हिंदी में कबीर और नानक जैसे महात्माओं की वाणी में पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन सबके अतिरिक्त तंत्र-ग्रंथ योग-विद्या के भंडार हैं। लोग आजकल तंत्रों के नाम पर नाक सिकोड़ते हैं और इसमें संदेह नहीं कि उनमें ऊपर से ऐसी बहुत सी बातें देख पड़ती हैं जिनसे जी घबरा उठता है, परंतु वीर कोटि के उपासकों के लिये उनमें शुद्ध योग की शिक्षा है। योग-वाङ्मय के सिवा प्राण का विषय आयुर्वेद के भी अंतर्गत है।

पर खेद की बात है कि जिस शब्द का प्रयोग इतने बड़े बड़े विद्वान् और महात्मा इतने विशद ग्रंथों में इतने आधिक्य से करते हैं उसका अर्थ अंधकार में पड़ा हुआ है। साधारणतः यही समझा जाता है कि प्राण का अर्थ है वायु और वायु का अर्थ है साँस या हवा। वैद्य लोग उन रोगों को, जिनको पाश्चात्य चिकित्सक नाड़ि-संस्थान का विकार समझते हैं—और उनकी समझ की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रयोगों से होती है—वायु के प्रकोप से

उत्पन्न मानते हैं। डकार आना भी वायु का विकार है और उन्माद भी वायु का ही दोष है। जब कोई ज्वर में बकने लगता है तो कहा जाता है कि वायु मस्तिष्क में चढ़ गया। मरनेवाले का प्राण निकलना और साँस छूटना एक ही बात हो गई है। बहुत दिनों से शरीर को चीरने-फाड़ने की पद्धति तो उठ ही गई है, अतः जिन तंतुओं के सहारे यह वायु (अर्थात् हवा) चढ़ा-उतरा करता है वे रक्तवाहक शिराओं के समान खोखली नलियाँ समझे जाने लगे हैं।

वैद्य की बात जाने दीजिए, योगियों को तो ये बातें स्पष्ट ज्ञात होनी ही चाहिएँ। कहा यह जाता है कि बिना शरीर की चीर-फाड़ किए और पुस्तकों में अध्ययन किए योगी को शरीर के भीतर की बातें ज्ञात हो जाती हैं। पतंजलि कहते हैं कि नाभिस्थान में संयम करने से कायव्यूह का ज्ञान हो जाता है। योग की पोथियों में नाड़िजाल का बड़ा ही विशद वर्णन मिलता है। तब योगियों का तो यह अपना विषय है। पर हम देखते हैं कि बहुत से साधकों के ही नहीं, वरन् ऐसे लोगों के जो दूसरों को इस मार्ग की शिक्षा देते हैं, मुँह से ऐसी ही बात निकलती है कि प्राण, वायु और साँस समानार्थक शब्द हैं। 'अमुक महात्मा ने अपनी साँस ब्रह्मांड में चढ़ा ली'—ऐसे वाक्य बहुत सुनने में आते हैं।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि न तो मैं सब वैद्यों पर आक्षेप कर रहा हूँ, न सभी योग में अभिरुचि लेनेवालों पर। पर इन दोनों वर्गों की बहुत बड़ी संख्या पर मेरी शिकायत लागू होती है।

पर शास्त्र और व्यवहार दोनों ही ओर से इस विश्वास पर प्रहार होना चाहिए था। दूसरे ग्रंथों को जाने दीजिए, स्वयं वेद वायु और प्राण में भेद करता है। पुरुषसूक्त में श्रुति कहती है 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च'—विराट् पुरुष के श्रोत्र से वायु और प्राण उत्पन्न हुए। श्रुति द्विरुक्ति क्यों करती? इससे यह शंका होती है कि वायु और प्राण भिन्न पदार्थ हैं। योगी अपने प्राण को सुषुम्ना नड़ी में चढ़ाता है। पीठ की हड्डी को मेरुदंड कहते हैं। उसमें जो नली है उसके बीच में गुदास्थान से लेकर मस्तिष्क तक जानेवाली नाड़ी को सुषुम्ना कहते हैं। यह तंतुरूपा—डोरी के समान है। इस पर

स्थान स्थान पर नाड़ि-तंतुओं के गुच्छे हैं। ये तंतु शरीर में नीचे से ऊपर तक फैले हुए हैं और हमारे ज्ञान और क्रिया के साधन हैं। शरीर के कोने कोने से आकर तंतु सुषुम्ना में मिलते हैं। देखना, सुनना, चलना, साँस लेना, आदि सभी कामों से संबंध रखनेवाले अवयवों का मेल इनके द्वारा सुषुम्ना और मस्तिष्क से हो जाता है। अब सोचने की बात यह है कि इन पतली डोरियों के भीतर साँस कैसे घुस जायगी ? मस्तिष्क में वह किस जगह जाकर ठहरेगी ? जो लोग थोड़ा-बहुत योगाभ्यास करते हैं उनको तो अपने अनुभव की कुछ परख होनी चाहिए। क्या सचमुच उनकी साँस मेरुदंड के भीतर घुसकर सुषुम्ना में छेद करके ऊपर उठती है ! यदि वे थोड़ा सा भी विचार करेंगे तो उनको प्रतीत हो जायगा कि यह बात नहीं है। साँस से सुषुम्ना का कोई संबंध नहीं है।

बस यही सुषुम्नाचारी पदार्थ प्राण है। यह जीवन-शक्ति है। इस शक्ति के अस्तित्व में शरीर की सारी क्रियाएँ होती हैं। यदि यह किसी भाग से थोड़ा सा खिँच जाती है तो वह अंग रुग्ण हो जाता है। यदि शरीर से इसका पूरा विच्छेद हो जाता है तो मृत्यु हो जाती है।

प्राण और श्वासा को लेकर जो शब्द-व्यभिचार होता है उसके तीन कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि कभी प्राण और वायु शब्द साधारण बोलचाल में समानार्थ-बोधक रहे होंगे। पीछे प्राण एक विशेष पारिभाषिक शब्द हो गया पर उसका वायुवाले अर्थ से पीछा न छूट सका। इसलिये विद्वन्मंडली में भी कुछ अवसरों पर वह श्वास वायु के अर्थ में और वायु शब्द कहीं कहीं प्राण के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। जैसे, योगदर्शन के 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम् वा प्राणस्य' (या प्राण के निकालने और धारण करने से) सूत्र में स्पष्ट ही श्वास-प्रश्वास वायु की ओर संकेत है। दूसरे, इस शरीर में प्राणशक्ति की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति श्वास-क्रिया से होती है। मूर्च्छा और सुषुप्ति की दशा में भी साँस बंद नहीं होती और मरनेवाले की सब चेष्टाओं के बंद हो जाने के बहुत पीछे तक धीमी साँस चलती रहती है। एक तीसरा कारण और भी है और योग-चर्चा में भूल का मुख्य कुश्रेय उसे ही है। प्राण और वायु दोनों का

ही उपयोग योग में होता है। योगी का उद्देश्य मोक्ष है। जब तक चित्त चंचल रहता है, जब तक चित्त में कोई भी वृत्ति उठती रहती है, तब तक पुरुष चित्त के साथ तादात्म्य कल्पित करके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुभव करता रहता है। अतः मोक्ष के लिये चित्त का पूर्णतया उपशम अनिवार्यतया आवश्यक है। पतंजलि कहते हैं कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। परंतु साधारण अवस्था में चित्त और नाड़ि संस्थान का चोली-दामन का साथ है। एक दूसरे को सतत प्रभावित करता रहता है। नाड़ि-संस्थान में उद्वेग होने से चित्त में ज्ञान, भ्रांति, सुख, दुःख, भय आदि का उदय होता है और चित्त की अवस्थाओं के अनुसार नाड़ि-जाल का संचालन होता है। रक्तप्रवाह, हृदयस्पंद जैसी क्रियाएँ साधारणतः स्वच्छंद रूप से होती रहती हैं परंतु बहुत तीव्र हर्षशोकादि से इनमें भी व्यतिक्रम पड़ जाता है। अतः चित्त को वश में करने के लिये नाड़िसंस्थान को वश में करना आवश्यक होता है। योगी क्या खाय, कैसे और कब नहाय, कैसा और कितना श्रम करे, इन सब बातों के लिये नियम बने हैं। कुछ दूसरी शारीरिक क्रियाओं का भी विधान है। इन सबका परिणाम यह होता है कि नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। साधारण मनुष्य की नाड़ियाँ प्राणशक्ति का समुचित वहन नहीं कर सकतीं। बाधा पड़ती रहती है, इससे रोग और क्षोभ होता है। एक भाग की चेष्टा का दूसरे भाग की चेष्टा से संघर्ष सा होता है। नाड़ियों के शुद्ध होने पर ये बातें दूर हो जाती हैं। सारी क्रियाएँ उसी प्रकार मिलकर होती हैं जिस प्रकार एक अच्छे बजानेवाले की अँगुलियों के चलने से सितार में से स्वर निकलते हैं। आपस के टकराने में और रोगादि से लड़ने में जो शक्ति नष्ट होती है वह भी संचित हो जाती है। ज्यों ज्यों योगी धीरे धीरे प्राण को शरीर के बाहरी भागों से खींचकर नाड़िमाला पर ले आता है और नाड़िकंदों अर्थात् चक्रों पर केंद्रीभूत करता है त्यों त्यों उसके ज्ञान और बल में अद्भुत वृद्धि होती है और स्वरूप का अनुभव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जिन क्रियाओं से इस काम में बड़ी सहायता मिलती है उनमें मुख्य स्थान आसन और श्वास-नियंत्रण का है। एक आसन से स्थिर होकर बैठने तथा साँस की गति का नियंत्रण करने से शरीर निःक्षोभ

हो जाता है और नाड़ियों में निश्चलता आती है। अतः श्वासा का नियंत्रण प्राण के नियंत्रण का एक बड़ा साधन है। साधन और साध्य में अभेद करके व्यवहार में श्वास और प्राण का एक अर्थ हो गया।

जीवधारियों में प्राण श्वास को प्रेरित करता है और अपने काम में व्यस्त रखता है। यदि प्राण अपने संबंध का विच्छेद कर ले तो सभी चेतस और दैहिक चेष्टाएँ बिखर जायँ, मृत्यु हो जाय। यह प्राण जीवन-शक्ति है परंतु शक्ति होने से प्रधानसंभव नहीं है, रजोगुण से नहीं निकला है। यह पुरुष की सत्ता की प्रतिच्छाया है, उसके अस्तित्व का प्रभाव या प्रमाण है। पुरुष की अपनी आत्मिक शक्ति है जो अंतःकरण में बुद्धि को परचालित करती है; देह में भौतिक शक्तियों का नियमन करती है। परंतु पुरुष अखिल विश्वव्यापी विराट् पुरुष का अंश मात्र है, अतः उसका प्राण उस परम पुरुष के प्राण का अंश, उस प्राण-समुद्र की एक लहरी है। इस समय कृत्रिम पार्थक्य का पर्दा पड़ा हुआ है, परंतु ज्यों ज्यों योगी अपने प्राण को बाहर से खींचकर सुषुम्ना में चढ़ाता है त्यों त्यों वह विक्षेपहीन होता जाता है और अपने मूल के निकट आता जाता है। इसी से योगी के ज्ञान और बल में वृद्धि होती जाती है। जब वह अपने प्राण को कैद करनेवाली दीवारों को तोड़कर उसे उसके उद्गम पर पहुँचा देता है उस समय, तंत्र के शब्दों में, शिव और शक्ति का मेल होता है, जीवेश्वर-भेद मिट जाता है, पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अस्तु, यह खूब समझ लेना चाहिए कि वायु प्राण नहीं है।

(ग) पंच महाभूत

हमारे दर्शनशास्त्र के सिद्धांत का विज्ञान के साथ कहाँ तक सामंजस्य है यह देखने के पहिले यह उचित है कि हम विज्ञान का खींचा हुआ जगत् का चित्र अपनी आँखों के सामने रख लें। रसायन-शास्त्र के अनुसार इस विशाल विश्व के विस्तृत प्रपंच की तह में नब्बे से कुछ ऊपर मूल पदार्थ हैं, जिनमें से प्रत्येक तत्त्व कहलाता है। लोहा, पारा, सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा तत्त्व हैं। इनकी मूलता इस बात में है कि दूसरे पदार्थ इनके मिश्रण से बने हैं पर ये किसी के मिश्रण से नहीं बने हैं। पीतल तत्त्व नहीं है

क्योंकि वह ताँबा और जस्ता को साथ गलाने से बनता है। तूतिया और जल मूल पदार्थ नहीं हैं। जल में से हाइड्रोजन और आक्सिजन नाम के दो पदार्थ पृथक किए जा सकते हैं; तूतिया ताँबा, गंधक और आक्सिजन के मेल से बनता है। ये तत्त्व ठोस भी रहते हैं, गर्मी देने से पिघलकर द्रव हो जाते हैं और बहुत गर्म होने पर भाप की भाँति उड़ जाते हैं। प्रत्येक तत्त्व के सबसे छोटे टुकड़े को परमाणु कहते हैं। परंतु विज्ञान यहीं नहीं रुकता। उसने और गहिरा अन्वेषण करके यह देखा है कि प्रत्येक तत्त्व का प्रत्येक परमाणु एक प्रकार का सौर जगत् है। उसमें कुछ बहुत छोटे कण बीच में होते हैं, कुछ उनके चारों ओर घूमते रहते हैं। इन कणों में से कोई धन विद्युत्, कोई ऋण विद्युत् युक्त होता है। विद्युत् शक्ति का एक रूप है। शक्ति अनेक रूपों में जगत् को परिचालित कर रही है। वह कहीं उष्णता, कहीं प्रकाश, कहीं गुरुत्वाकर्षण और कहीं रासायनिक आकर्षण का रूप धारण करती है। वही पनचक्की चलाती है, रेल के एंजिन और कारखाने की मशीनों को परिचालित करती है तथा हमारी मांस-पेशियों में बल के रूप में प्रकट होती है। ये सभी एक दूसरे के रूपांतर हैं। विद्युत् स्यात् इनमें सबसे सूक्ष्म है। कम से कम अभी तक उससे सूक्ष्म किसी रूप का हमें पता नहीं है। अस्तु। तत्त्वों में इसी बात का अंतर है कि किसके परमाणु में किस प्रकार के कितने कण हैं। जगत् की ईंटें दो ही प्रकार की हैं; धनविद्युन्मय कण और ऋणविद्युन्मय कण। पर अभी और आगे चलना है। इन कणों में और विद्युत् में एक विचित्र संबंध है। इनको भौतिक इसलिये कहा जाता है कि इनमें द्रव्यमान है, इनको तौला जा सकता है। पर यह द्रव्यमान गतिसापेक्ष है और गति निर्भर है शक्ति पर। गति बढ़ने पर द्रव्यमान भी बढ़ता है। थोड़े में, अवस्था-विशेष में शक्ति ही उस गुण को प्रदर्शित करती है, जिसे द्रव्यमान कहते हैं। अतः दो प्रकार की विद्युतों से युक्त कणों की सत्ता में गौरव प्रतीत होता है। इतना ही मानना अलम् है कि दो प्रकार की विद्युत् हैं, धन और ऋण। पर ऐसा भी मानने का कारण है कि एक ही प्रकार की अर्थात् ऋण विद्युत् है—उसमें जो बीच बीच में अवकाश, रिक्त स्थान हैं, वही धन विद्युत् से प्रतीत

होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत् के मूल में एक पदार्थ, शक्ति का कोई भेद, है। वह दिक् में स्थित है, अवकाश, स्थान, घेरता है। गति ही उसका धर्म है। विशेष अवस्थाओं में वह द्रव्यमान धर्म प्रदर्शित करता है। तब उससे परमाणुओं की सृष्टि होती है और परमाणुओं से जगत् का सारा प्रपंच तैयार होता है। पुंजीभूत शक्ति से परमाणु का प्रादुर्भाव और विगलित परमाणु से पुनः शक्ति का निःस्रवण यह जगत् का अंतस्तल है। कुछ ऐसी भी कल्पना की जाती थी कि आकाश नाम का एक परम सूक्ष्म पदार्थ है जिसमें विद्युत् की तरंगें उठती रहती हैं; क्योंकि तरंगों के लिये, विद्युत् की गति के लिये, किसी माध्यम का होना आवश्यक प्रतीत होता था। बिना पानी के लहर की कल्पना कठिन होती है। पर आज पृथक् आकाश पदार्थ की सत्ता प्रायः नहीं मानी जाती। जिस अवकाश, शून्य, दिक् में जगत् है, उसके अपने धर्म ऐसे हैं कि उनके ही कारण वह दृग्विषय फलीभूत हो सकते हैं जिनको समझने के लिये आकाश की कल्पना की जाती थी। इन धर्मों का अन्वेषण गणित का क्षेत्र है और उसको इस काम में विस्मयकारक सफलता प्राप्त हुई है।* इसी चित्र को सामने रखकर हमको अपने दर्शनों की देन पर विचार करना है।

---

* मैंने यह प्रयत्न किया है कि वैज्ञानिक खोज के अब तक के परिणामों का ऐसा वर्णन दूँ जो उन पाठकों के लिये भी सुबोध हो, जो विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वस्तुतः विज्ञान का यह सिद्धांत अंश बहुत ही दुरूह है। अपनी पुस्तक 'जीवन और दर्शन' में मैंने इन वैज्ञानिक बातों का अधिक विस्तृत वर्णन किया है। रसायन और शक्ति के रूपों के विषय में जो ऊपर कहा गया है वह तो उन प्रारंभिक पुस्तकों में भी मिल जायगा जिनको कालिजों की निम्न कक्षाओं के विद्यार्थी पढ़ते हैं पर सृष्टि-संबंधी गणित और विज्ञान के ऊँचे विचारों के लिये विशेषज्ञों की लिखी पुस्तकें देखनी होंगी। एडिंग्टन की 'दि नेचर आव दि फिजिकल वर्ल्ड', लिओपोल्ड इंफेल्ड की 'दि वर्ल्ड इन माडर्न सायंस', ह्वाइटहेड की 'सायंस ऐंड दि माडर्न वर्ल्ड', मिलिकन की 'एलेक्ट्रन्स' तथा सर जेम्स जीन्स की पुस्तकों में इस विषय का अच्छा निदर्शन है।

इस वर्णन में दी गई अधिकतर बातें प्रयोग-सिद्ध हैं परंतु कुछ सिद्धांतरूप हैं। सिद्धांत का काम यह है कि प्रयोग द्वारा प्राप्त अनुभव को समझने में सहायता दे।

यह भी ध्यान में रखना होगा कि जगत् का यह पूरा चित्र नहीं है। जीवित प्राणियों में जो जीवन-शक्ति होती है, बुद्धि और मन में जो शक्ति होती है, उन शक्तियों से इस भौतिक परा शक्ति का क्या संबंध है ? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है। अपनी खोज के द्वारा भौतिक विज्ञान ऐसी जगह पहुँच गया है जहाँ से बहुत आगे वह अकेले नहीं जा सकता क्योंकि यहाँ पर उसकी सीमा के साथ जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान, धर्म-शास्त्र और योगविद्या की सीमाएँ मिलती हैं। इन सबका समन्वय कराना दर्शन का काम है। सच्चा दार्शनिक सिद्धांत वही होगा जो किसी भी शास्त्र के प्रामाणिक तथ्यों का विरोध न करते हुए सब तथ्यों का पारस्परिक संबंध और सामंजस्य दिखला सकेगा।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् अब तक ऐसा मानते रहे हैं कि हमारा अंतःकरण एक प्रकार का तख्ता है जिस पर बाहरी विषय इंद्रियों के द्वारा अपना अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। इंद्रियाँ खुली हैं, उनको विषयों से विताड़ित होना ही होगा और फिर चित्त पर संस्कार पड़े बिना रह नहीं सकता। दूसरी बात वे यह मानते रहे हैं कि चित्त और शरीर का ऐसा साथ है कि शरीर के बिना अर्थात् सुषुम्ना से लेकर मस्तिष्क तक के नाड़िजाल के अणुओं के प्रकम्पन के बिना, चेतस क्रिया नहीं हो सकती। भारतीय दर्शन इन दोनों मतों को अस्वीकार करता है। चित्त और इंद्रिय निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं। वे विषयों के हाथों बेबस नहीं रौंदी जातीं, स्वयं विषयों को ग्रहण करने के लिये अग्रसर होती हैं। इसी लिये इंद्रियों को ऐसे घोड़ों से उपमा दी जाती है जिनको सँभालना कठिन होता है। कठोपनिषत् कहती है—

"पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूः—स्वयंभू ईश्वर ने भीतर से बाहर की ओर खोदा। व्यक्ति और जाति में चित्त और इंद्रिय-शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उन पर बराबर विषयों का प्रहार होता रहता है वरन्

इसलिये कि विषयों से संपर्क में आने की, उनको सर्वतोमुख पकड़ने की, प्रवृत्ति चित्त और इंद्रियों का सहज धर्म है।

दूसरी बात यह है कि चित्त और इंद्रिय शरीर के साथ स्वभावतः बँधे नहीं हैं। साधारणतः हम इनकी क्रियाओं को नाड़िजाल पर निर्भर पाते हैं, पर यह तो इनकी निकृष्ट दशा है। ज्यों ज्यों मनुष्य अंतर्मुख होता है त्यों त्यों वह इनको स्वतंत्र और शक्तिमान् बनाता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब दृश्य और द्रष्टा का साक्षात्कार होता है तब दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और दोनों में ही परिवर्तन होता है। जीवात्मा अर्थात् अंतःकरणविशिष्ट पुरुष द्रष्टा है। प्रत्येक अनुभव उसके अंतःकरण पर अपनी छाप छोड़ता है और प्रत्येक अनुभव के साथ अनुभव करनेवाला बदलता है। उस अनुभव के पहिले और उसके बादवाले चित्त में, अथच चित्तवाले में अंतर है। इसी प्रकार दृश्य का स्वरूप द्रष्टा के अधीन है। वही दृश्य सुखी, दुःखी, निर्धन, दरिद्र, स्वस्थ, रोगी, संसारी, विरक्त को भिन्न भिन्न रंगों से रँगा प्रतीत होता है। इसी इतनी बात को लीजिए। अंधे मनुष्य के लिये, जिसकी चक्षुरिंद्रिय काम नहीं कर सकती, जगत् का क्या रूप है और यदि उसकी यह इंद्रिय यकायक काम करने लग जाय तो इसका क्या रूप हो जायगा। न जाने कितने गुण जिनका इस समय उसके लिये कोई पता नहीं है, अकस्मात् उत्पन्न हो जायँगे।

इन बातों को ध्यान में रखकर हमको महाभूतों के विषय में विचार करना है।

हम पहिले कह चुके हैं कि पुरुष और प्रधान के योग से पहिले बुद्धि उत्पन्न हुई, फिर उससे अहंकार निकला। अहंकार ने पुरुष के व्यक्तित्व को और खिला दिया। उसमें अहंभाव—मैंपन—पूर्ण रूपेण व्याकृत हो उठा। परंतु मैं के लिये न-मैं—अहं के लिये अनहम्—उतना ही आवश्यक है जितना रात के लिये दिन। यदि उपयुक्त साधन हों तो अहं और अनहम् एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं। मन और दसों इंद्रियों की उत्पत्ति से

साधन की पूर्ति भी हो गई। अब इस जीवात्मा-रूपी ज्ञाता का ज्ञेय, उसका न-मैं, क्या था ?

पुरुष से विरुद्धधर्म्मा प्रधान उसका मुख्य ज्ञेय था। इसको श्रोत्रेंद्रिय ने अपना विषय बनाया। फलतः उसमें श्रोतव्यता धर्म्म, अर्थात् शब्द, उदय हुआ और शब्द से विशिष्ट होकर न मैं का आकाश रूप हुआ। यदि प्रधान न भी होता तो भी मैं की भावना न-मैं की भावना उत्पन्न करती ही। यह भावना आकाश की भावना में मिल गई। आकाश शब्द से सर्वतः व्याप्त था, इसी लिये शब्द और आकाश में संबंध बतलाया जाता है। एक और बात है। जीवात्मा को अस्पष्टतया सही या कुछ न कुछ अनुभूति तो उस 'कुल' की होती ही रही होगी, जिसका वह अंश था। प्राण किसी इंद्रिय का विषय नहीं बनाया जा सकता था पर जीव को अपने में ओतप्रोत, अपने भीतर और बाहर व्याप्त, किसी शक्ति की झीनी संवित् तो रही होगी। यही प्राण उस शब्द को एक अद्भुत शक्ति दे रहा था, जो किसी अन्य शब्द में नहीं है। वह शब्द ओज से परिपूर्ण है। उसमें से अनंत ज्ञान, माधुर्य्य और शांति की किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं।

यही अनुभूति योगी को उस अवस्था में होती है जब वह अभ्यास के पुष्ट होने पर चित्त को एकाग्र करके श्रोत्रेंद्रिय को बाहर के शब्दादि तथा मस्तिष्क के बंधनों से मुक्त कर लेता है। यह प्रणव ईश्वर का प्रतीक है। योगदर्शन में इसे ईश्वर का वाचक कहा गया है। ॐ इसकी एक झीनी और अस्फुट प्रतिध्वनि सी है, यों वस्तुतः यह अनुच्चार्य्य है। साधारण अवस्था में हमारी श्रोत्रेंद्रिय की शक्ति कई छोटे प्राणियों की अपेक्षा भी क्षीण रहती है और चारों ओर कोट्यनुकोटि प्रकार की ध्वनियों से दिङ्मंडल परिपूर्ण रहता है अतः हमारे लिये प्रणव को पकड़ना असंभव है।

जब योगी अभ्यास-पथ पर आरूढ़ होता है तो उसकी इंद्रिय-शक्ति बढ़ती है और वह क्षितिसंभूत ऐसी आवाजों को सुनने लगता है जिनका आज उसके लिये कहीं अस्तित्व नहीं है। धीरे धीरे दिग्व्यापी अटूट शब्द-राशि के भीतर उसको प्रणव की प्रतिच्छाया मिलने लगती है। यह दिव्य नाद भौतिक नहीं है, इसी लिये इसे अनाहत—दो पदार्थों के

आघात के बिना उत्पन्न—कहते हैं। इसके भी परे शुद्ध प्रणव पद है। आकाश के उदय होने से सभी जीव जो एक दूसरे के लिये न मैं, अपने अहम् से व्यतिरिक्त, हैं परस्पर प्रभावित कर सकते हैं। उसके धर्मों का अध्ययन गणित और न्याय जैसे शास्त्र करते हैं। इन धर्मों के ही कारण निमित्त संबंध—कारण से कार्य के उद्गम—में हमारा विश्वास दृढ़ होता है। गणित के द्वारा हमको दिक् और काल की अविच्छिन्न परंपरा—अनंत से अनंत तक के विस्तार—का ज्ञान होता है। गणित ही हमको बतलाता है कि, क्योंकि और इसलिये, कारण और कार्य, का अटूट संबंध है।

आकाश पहिला महाभूत है। यह एक विचारणीय बात है कि न्याय वैशेषिक को छोड़कर शेष दर्शनों ने दिक् और काल की पृथक् उत्पत्ति नहीं बतलाई, यद्यपि उसका उल्लेख बराबर करते हैं। प्रत्येक बाहरी घटना किसी जगह और किसी समय होती है। अंतःकरण में जगह तो नहीं होती पर विचारों की धारा भी काल की परिधि के भीतर ही प्रतीत होती है। पर न तो वेदांत बताता है कि आकाश और काल शुद्ध ब्रह्म से कैसे प्रादुर्भूत हुए, न सांख्य यह बताता है कि प्रधान से दिक् और काल कैसे निकले। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि इन शास्त्रों के परम आचार्य इन शब्दों को उन्हीं पदार्थों में से किन्हीं का नामांतर मानते होंगे जिनका विकास वे बतला चुके हैं।

बात है भी ऐसी ही। काल पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है, परंतु आकाश को दिक् से भिन्न मानना अनावश्यक है। आकाश ही वह अवकाश देता है जिसमें सब वस्तुएँ रहती हैं और घटनाएँ घटती हैं। हम चित्त से सभी वस्तुओं और घटनाओं को यत्न करके निकाल सकते हैं, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कुछ रह जाता है। इस अवशेष की कोई रूपरेखा हमारे ध्यान में नहीं होती, कोई गुण पकड़ में नहीं आता, जिसके सहारे उसका निर्देश कर सकें। फिर भी जैसे कुछ शून्य सा रहता है, ऐसी प्रतीति मिटती नहीं। यह बचा हुआ पदार्थ आकाश है। स्वयं दृग्विषय नहीं है, घटना नहीं है पर दृग्विषयों और घटनाओं की सत्ता इस पर निर्भर है। घटनाओं की गति की संभावना ही इसका स्वरूप

है। आकाश अखंड और निःसीम है, इसी लिये व्यापकता की दृष्टि से ईश्वर की उससे उपमा दी जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात भी समझ में आ जाती है कि आकाश और शब्द में प्राचीन आचार्यों ने क्यों संबंध बतलाया है। वह शब्द जो आकाश में व्याप्त है अलौकिक है। यदि शब्द का अर्थ पशु पक्षी मनुष्यादि की बोली या दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न ध्वनि लिया जाय तब तो भौतिक विज्ञान का प्रारंभिक विद्यार्थी भी यह आक्षेप कर सकता है कि ऐसे संबंध की बात कहना अवैज्ञानिक है। इस प्रकार की आवाजें तो साधारण ठोस, तरल या वाष्परूपी वस्तुओं को ही अपना माध्यम बना सकती हैं।

आकाश के बाद विकास की प्रगति और तीव्र हो चली। जो न-मैं इस समय आकाश की अवस्था में था उसको त्वगिंद्रिय ने अपना विषय बनाया अर्थात् त्वगिंद्रिय ने उससे संपर्क स्थापित किया। इससे उसने एक नया गुण प्रदर्शित किया। इस गुण को स्पर्श कहते हैं। यह दूसरी तन्मात्रा हुई। जो न-मैं अब तक एक इंद्रिय का विषय था, जो एक इंद्रिय के द्वारा द्रष्टा के चित्त पर संस्कार उत्पन्न करता था, वह अब दो इंद्रियों का विषय हुआ।

स्पर्श का अर्थ छूना है। आजकल कुछ लोग इसका अर्थ तापमान भी करते हैं; क्योंकि बहुत सी पुस्तकों में स्पर्श के शीत और उष्ण दो भेद कहे गए हैं। त्वगिंद्रिय का विषय होना ही स्पर्श का स्वरूप है। साधारणतः विद्युत् या ऐसी ही अन्य सूक्ष्म शक्तियों को शरीर में विषयीकृत करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। आकाश में अनंत प्रकंपन हो रहा है, सैकड़ों प्रकार से शक्ति तरंगित हो रही है पर हमारा अनुभूति-क्षेत्र बड़ा संकुचित है। कुछ गर्मी, कुछ प्रकाश और बस। पर ऐसा कहा जाता है कि किसी किसी रोगी की त्वगिंद्रिय इतनी तीव्र हो गई है कि शरीर से लगा देने से वह कागज पर का लिखा देख सका है। यह तीव्रता तो आकस्मिक है। परंतु अभ्यास के द्वारा त्वगिंद्रिय अपनी नैसर्गिक तीक्ष्णता पर लाई जा सकती है और शक्तिसागर के अविश्रांत नर्तन की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। यही अनुभूति स्पर्श है। नीचे के स्तरों

में यही स्पर्श सर्दी, गर्मी, कठोरता, नरमी, गुदगुदी, दबाव आदि के रूप में अनुभूत होता है।

स्पर्शयुक्त होकर आकाश का रूप भी बदला। इस नए रूप में उसे वायु कहते हैं। वायु गतिशील है। मेरा विश्वास है कि वायु शब्द से प्राचीन आचार्यों का तात्पर्य्य भौतिक शक्ति के सूक्ष्मतम रूप से था, चाहे वह विद्युत् हो या विद्युत् से भी सूक्ष्म कुछ और जिसका अभी विज्ञान को पता नहीं है। शक्ति का धर्म्म है प्रकंपन, गतिमत्ता। स्यात् इसी साधर्म्य से शक्ति के इस मूल रूप का नाम वायु रखा गया। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यद्यपि उन लोगों ने चलना, हिलना, यंत्र-चालन, रासायनिक क्रिया, मांस-पेशियों का तनना, उष्णता आदि को देखा ही होगा फिर भी इन सब की तह में काम करनेवाली शक्ति को न तो कोई नाम दिया और न सृष्टिक्रम में उसको कोई स्थान दिया। वैशेषिक-न्याय की भाषा में जो कर्म और गमन शब्द आए हैं वे शक्ति के पर्य्यायवाची नहीं हैं। शक्ति इनका कारण होती है और इनकी मात्रा के अनुसार उसकी मात्रा का मान किया जा सकता है, पर दोनों बातें एक नहीं हैं। वायु प्रधान के अवयवभूत रजोगुण का विकार है। वह चराचर में, जड़-चेतन में, अनेक रूपों से व्याप्त है। वह विश्व का भौतिक शक्ति-पारावार है।

जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा की व्यापकता की तुलना आकाश से की जाती है, उसी प्रकार यह दूसरा महाभूत प्राण-शक्ति के लिये उपमान हो सकता है। ऋग्वेद के दशम मंडल के १२५वें सूक्त (प्रसिद्ध देवीसूक्त) में ईश्वर की परा शक्ति कहती है—

अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा।

मैं ही सब भुवनों को आरंभ करती हुई वायु की भाँति गतिमती होती हूँ।

यह पदार्थ भी अपरिवर्तित नहीं रह सकता था। चक्षुरिंद्रिय ने इसके रहस्य को जानने का प्रयत्न किया। उसके आक्रमण से इसमें एक नए गुण का विकास हुआ। इस नए गुण का नाम रूप है। यह तीसरी तन्मात्रा हुई। इसके आविर्भूत होने से जीव का अनहम् अब तीन इंद्रियों का विषय हो गया। उससे विशिष्ट होकर इस अनहम् का रूप भी बदला।

उसकी इस नई मूर्ति का नाम तेज है। रूप से तेज नामक तीसरा महाभूत प्रकट हुआ।

तेज आग नहीं है, न नैयायिकों के कथन के अनुसार सोना उसका घनीभूत रूप है। मेरी समझ में विद्युद्युक्त कणों की अवस्था को तैजस कहा है। ये निरंतर प्रकंपन की दशा में रहते हैं। कण कहीं टूट-कर शक्त्यात्मक हो जाते हैं; शक्ति कहीं मूर्त होकर और द्रव्यमान गुण को धारण करके विद्युत्कण बनती है। कणों की गति-विधि का मानस चित्र बनाना प्रायः असंभव है। उसको शब्दों में भी व्यक्त करना कठिन है। उसके संबंध में विज्ञान को अनिश्चितता, संभावना, संभवप्रायता जैसे गोल और अस्पष्टार्थ-बोधक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। हाँ, गणित के सूत्रों द्वारा कुछ निदर्शन हो सकता है। तेज की समष्टि को विराट् पुरुष का प्रतीक मानकर ईश्वर को ज्योतिःस्वरूप कहा जाता है।

रूप का तेज से संबंध स्पष्ट है। रूप का अर्थ हुआ प्रकाश या रंग। यह उपयुक्त है। हमको तैजस द्रव्यों का ज्ञान उनसे प्राप्त प्रकाश-रश्मियों के ही द्वारा होता है। उनमें जहाँ किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ कि आनेवाले प्रकाश में परिवर्तन हो जाता है। स्थान बदलना, कंपन, गति में वृद्धि-ह्रास, द्रव्यमान का घटना-बढ़ना, इन सब बातों का चिह्न वैज्ञानिक के यंत्र पर प्रकाश-रश्मियाँ जोड़ जाती हैं। शक्ति से कण का प्रादुर्भाव और कण का शक्ति में विलीन होना भी प्रकाश के ही द्वारा अपना परिचय देता है। इसलिये जिन लोगों ने रूप को तेज का गुण बतलाया, उनका ऐसा कहना युक्तियुक्त था।

अब रसनेंद्रिय ने अनुसंधान आरंभ किया। फलतः विस्तृत तेजो-राशि में एक नए लक्षण की अभिव्यक्ति हुई। इस नए लक्षण को रस कहते हैं। यह चौथी तन्मात्रा हुई।

रस से विशिष्ट होकर तेज भी बदला। नए रूप में उसे अप् कहते हैं, जो चार इंद्रियों का विषय है। अप् चौथा महाभूत हुआ।

रस का अर्थ साधारणतः स्वाद माना जाता है। छः स्वाद, मधुर, लवण, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय, माने जाते हैं। पर यह सूची व्यापक

नहीं है। सुरासार या कॉस्टिक सोडा को लीजिए। इनका जिह्वा से स्पर्श होने से एक प्रकार की जलन की अनुभूति होती है पर यह जलन मिर्च की जलन से भिन्न है। यह नहीं कह सकते कि वह स्वाद नहीं है; कम से कम सुरासार का तो एक अपना स्वाद निःसंदेह है। पानी को ही लीजिए। पोथियों में तो जल का स्वाद मधुर बतलाया गया है पर यह माधुर्य खाँड के माधुर्य से नितांत भिन्न है। वस्तुतः इसके लिये दूसरा नाम होना चाहिए। वैज्ञानिक शुद्ध जल को निःस्वाद कहता है। यदि हम प्रचलित परिपाटी का परित्याग करके इसको छः स्वादों पर सीमित न मानें और उसे उस अनुभूति का नाम मान लें जो किसी भी पदार्थ और रसनेंद्रिय के संसर्ग से उत्पन्न होती है तो ऐसा माना जा सकता है कि सभी पदार्थों के परमाणुओं में किसी न किसी प्रकार का रस होगा। हम सब रसों को ग्रहण नहीं कर सकते और कुछ अनुभूतियाँ तो बड़ी ही अरुचिकर होंगी पर सूक्ष्मीकृत रसनेंद्रिय इन सबको अपना विषय बना सकेगी। हम अप् की जो व्याख्या करनेवाले हैं उसको ध्यान में रखते हुए यह बात भी स्मरणीय है कि गले हुए धातुओं को भी रस कहते हैं।

अप् का अर्थ जल नहीं हो सकता। पुराणों में ही नहीं प्रत्युत श्रुति में भी कहा है कि अप् से सृष्टि होती है और इसी में लीन होती है। अप के गर्भ से सृष्टि के निकलने का बराबर उल्लेख है। यह कैसे माना जाय कि जिन लोगों ने ऐसा लिखा है वे यह मानते थे कि किसी अवस्था में पहाड़, पत्थर, धातु भी जल में घुल जायँगे? यह भी जाने दीजिए। सूर्य चंद्र सुवर्ण नक्षत्रगण को तो उन्होंने भी तैजस माना है। कार्य कारण में लय होता है, कारण कार्य्य में नहीं। तेज अप् का कारण है, इसलिये अप् तो तेज में विलीन हो सकता है पर तेज अप् में विलीन नहीं हो सकता। फिर भी सूर्य्यादि का अप् से निकलना और फिर उसी में लीन होना बतलाया गया है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत का यह अवतरण देखिए :—

सद्मांतरिक्षं सदिवं सभागणं त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम्। (१२-६-१५)

पृथिवी, अंतरिक्ष, सूर्य्य, नक्षत्रगण और दिशाओं के साथ सारा त्रैलोक्य आप्लुत (जलमग्न) था। [१२वाँ स्कंध, ९वाँ अध्याय, १५वाँ श्लोक]

यह कार्य्य में कारण का लय शास्त्र और अनुभव के विरुद्ध है। अतः इस प्रसंग में अप् का अर्थ जल नहीं हो सकता। यह ठीक है कि पीछे से लोगों ने नासमझी के कारण अप् को जलवाची मान लिया।

आजकल ज्योतिष ने बड़ी उन्नति की है। ज्योतिषियों ने यंत्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष किया है कि विद्युत्कण और उनके संयोग से बने परमाणु आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं। पर सब जगह उनका जमाव एक सा नहीं है। आकाश के कुछ भागों में करोड़ों वर्षों में उनके बड़े बड़े विस्तीर्ण पुंज एकत्र हो गए हैं। ये पुंज विस्तार में करोड़ों कोस लंबे चौड़े गहरे हैं। इनमें से एक पुंज का तो हम प्रायः नित्य दर्शन करते हैं। पृथिवी मंगल गुरु आदि के साथ हमारा सूर्य्य स्वयं इसी पुंज के एक अंश में स्थित है। इसको हम आकाश-गंगा कहते हैं। ऐसे ही कई और पुंज हैं। इनको कुछ लोग द्वीप विश्व की उपाधि देते हैं। सूर्य्यादि तारे इन्हीं में से निकले हैं और तारों से ग्रह उपग्रह बनते हैं। फिर अनुकूल परिस्थिति में किसी ग्रह पर चेतनों की सृष्टि भी हो सकती है। अतः ये विशाल कण परमाणु-पुंज—ये नीहा-रिकाएँ—ही दृश्य जगत् का चूना-गारा हैं। यह इसी सामग्री से बना है, इसी में विलीन होगा। विश्व के किसी कोने में नए नक्षत्र बन रहे हैं, करोड़ों वर्षों में स्यात् उनसे फूटकर ये निकलेंगे, अरबों वर्षों में उनमें से किसी पर पृथिवी की भाँति सभ्यता और संस्कृति का भी उदय हो सकेगा। इसके साथ ही दूसरे कोने में पुराने नक्षत्र ठंडे पड़ रहे हैं, उनके साथ यदि कोई ग्रह होंगे तो वे न जाने कब के जीव-विहीन हो चुके होंगे। किसी तीसरे कोने में सूर्य्य टूट रहे हैं। वहाँ प्रलय हो रही है। इस सृष्टि-प्रलय-क्रम के ब्योरे के विषय में पूरा पूरा ज्ञान भले ही न हो परंतु मूल बात निर्विवाद है। अस्तु। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कणों और परमाणुओं के इस समुद्र-वत् फैलाव को तथा उनसे फेन के समान पिंडों को बनते और फिर फेन की भाँति विलीन होते देखकर ही अप् शब्द चुना गया। इस शब्द की एक विशेषता भी ध्यान में रखने योग्य है। यह संस्कृत में नित्य बहुवचनांत है। हिंदी में इसका ठीक अर्थ 'जलों' हुआ। इस शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक हो सकता है कि यह एक वस्तु नहीं प्रत्युत कई पदार्थों—

वैज्ञानिकों के मत से कई प्रकार के परमाणुओं और परमाणु-खंडों—का मिश्रण है। सूर्य्य-नक्षत्रादि पिंडों में अभी अविभक्त होने के कारण इसको कभी कभी सलिल—एकरस, समतल, दिगंतव्यापी द्रव पदार्थ—संज्ञा दी जाती है।

ज्ञान का एक साधन—घ्राणेंद्रिय—और बच रहा था। अब उसने अन्वेषण-क्षेत्र में पदार्पण किया। उसके प्रभाव से अप् में से गंध का प्रादुर्भाव हुआ। यह पाँचवीं तन्मात्रा है। इससे युक्त होने से अनहम् की क्षिति संज्ञा हुई।

गंध को क्षिति का गुण कहा है। इसको स्वीकार करने में कोई विशेष कठिनाई न होनी चाहिए। बहुत से पदार्थ, जो क्षिति के अंतर्गत हैं, हमको गंधयुक्त प्रतीत होते हैं। जहाँ हमको गंध नहीं मिलता वहाँ भी कुछ दूसरे प्राणियों की तीक्ष्ण घ्राणेंद्रिय गंध ढूँढ़ निकालती है। योगियों का कथन है कि उनको बराबर सूक्ष्म रसों और गंधों की अनुभूति होती है। इससे ऐसा माना जा सकता है कि सभी क्षैत पदार्थ गंधगुण-युक्त हैं।

क्षिति का अर्थ न तो मिट्टी है, न यह पृथिवी। यह शब्द सभी ठोस, तरल और वाष्पीय द्रव्यों के लिये आया है। सभी तत्त्व और तत्त्वों के मिश्रण से बने सभी दूसरे पदार्थ क्षिति के अंतर्गत हैं।

संक्षेप में, भूतों के संबंध में मेरा यही मत है। जहाँ तक मैं देखता हूँ यह विज्ञानसम्मत है और उन बातों पर प्रकाश डालता है जो भौतिक विज्ञान के लिये अब तक अज्ञात हैं। जीवन-शक्ति क्या है और अंतःकरण, इंद्रियगण और बाह्य जगत् में कैसा संबंध है, इन प्रश्नों को भी हल करने में इससे सहायता मिलती है। इसके साथ ही, यह क्लिष्ट-कल्पना नहीं है, न इसको स्थिर करने में मैंने शास्त्रों के साथ कोई खींचातानी की है। मेरा यह विश्वास है कि मैं इस प्रकार वही अर्थ दिखला रहा हूँ जो प्राचीन आचार्य्यों को अभिमत थे। नवीनों के पास न योग का अनुभव था, न वैज्ञानिक अनुभव। इसी से वे लोग चूक गए।

इस व्याख्या से एक बात और निकलती है। साधारणतः हम लोग महाभूत शब्द को अँगरेजी के मैटर का पर्य्याय मानते हैं। पर जैसा अर्थ

मैंने किया है उसके अनुसार पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक शब्दावली के तीन शब्दों दिक्, मैटर और शक्ति के अर्थों का अवबोधन इससे होता है। अकेले मैटर का भाव बहुत कुछ क्षिति से निकलता है और तेज उसका सूक्ष्मतम रूप है। संभव है, उपनिषदों में आया हुआ 'रयि' शब्द मैटर के अर्थ में आया हो। यह बात अन्वेष्टव्य है।

साधारणतः लोगों की धारणा यह है कि पाँचों महाभूत एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हैं और यह जगत् इन पाँचों के सम्मिश्रण का फल है। मैंने जो व्याख्या की है उसमें यह पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है। विकास-वाद का कोई भी भेद, चाहे वह सांख्य के अंतर्गत हो या वेदांत के या उभय के, भूतस्वातंत्र्य को नहीं मान सकता।

(घ) काल

मैंने पूर्ववर्ती खंड में एक जगह लिखा है कि सांख्य और वेदांत के आचार्य्यों ने काल की उत्पत्ति कहीं नहीं बतलाई है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे उसको पृथक् पदार्थ नहीं मानते।

काल दो प्रकार का होता है। एक तो काल वह है, जिसको हम कला, काष्ठा, मुहूर्त्त, मिनिट, दिन, वर्ष में विभक्त करते हैं और नापते हैं। नापना तभी हो सकता है जब एक वस्तु की दूसरी से तुलना की जा सके और तुलना तभी हो सकती है जब दोनों वस्तुएँ एक दूसरे के साथ साथ रखी जा सकें। यह बात दिक्, आकाश, में ही संभव है। अतः हम जिसको काल के नाम से नापते हैं वह काल नहीं दिक् में काल की प्रतिच्छाया है। वेदांत के शब्दों में वह दिक् में काल का अध्यास है।

वास्तविक काल अनुभूति का विषय है। द्रष्टा, जीवात्मा, को निरंतर नई अनुभूतियाँ होती रहती हैं। जो अनुभूति हो गई वह फिर सामने नहीं आती, उसकी तुलना किसी और अनुभूति से नहीं की जा सकती। पर कोई अनुभूति नष्ट नहीं होती। वह अपना संस्कार छोड़ जाती है जो पूर्ववर्ती संस्कारों से मिलकर एक हो जाता है। बस, जीवात्मा को अपनी इस संस्कार-माला की, यों कहिए कि अपनी, जो अनुभूति होती है वही कालानुभूति है। काल जीवात्मा का स्वरूप है।

हम अपनी एक अनुभूति की अवस्था में किसी बाह्य वस्तु को एक परिस्थिति में और एक जगह, दूसरी अनुभूति की अवस्था में उसे दूसरी परिस्थिति में और दूसरी जगह पाते हैं। अपनी अनुभूतियों का, सच्चे काल का, हमको प्रत्यक्ष ज्ञान है। हम इस काल को तो नाप तौल नहीं सकते पर इसके साथ साथ वस्तु में जो स्थान-परिवर्तन हुआ है उसे नाप सकते हैं। इस प्रकार दिक् की नाप काल की नाप बन जाती है। इसमें एक सुविधा है। कालानुभूति सब की अपनी पृथक् पृथक् है। यह आभ्यंतर है। पर जिस दिक् की अनुभूति की जाती है वह सब के बाहर है, इसलिये एक प्रकार से सबकी संपत्ति है। उसको आभ्यंतर अनुभूति की छाया के रूप में प्रयोग करने से हम अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे के अंतःकरणों की अनुभूति में थोड़ा सा प्रवेश करते हैं। इससे व्यवहार में सुगमता होती है।

जब योगी अंतःकरण की भूमिका तक पहुँचता है तो वह आकाश की सीमा के बाहर हो जाता है। चित्त की वृत्ति का पूर्णतया निरोध कर लेने पर, योग की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने पर, अनुभूतियों का क्रम टूट जाता है और काल का भी अतिक्रमण हो जाता है।

यह विवरण बहुत ही संक्षिप्त है। प्रसंग के अभाव से इसे अधिक विस्तार देना अनुचित होगा।
